

© लेखक

प्रकाशक

१ प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

१. नरेन्द्रकुमार सागरमल सराफा, शाजापुर (म० प्र०)

२. मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी-१

३. पार्श्वनाथ विद्याथम शोध-संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

४. प्राकृत भारती संस्थान, यति श्यामलालजी का उपाध्यक्ष,
मोतीसिंह भूमिओं का रास्ता, जयपुर-३०२००२

प्रकाशन वर्ष

एन १९८२

द्वितीय निर्वाण सं० २५०८

मूल्य : छोलह रुपये मात्र

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है ।

आज के युग में जिस सामाजिक चेतना, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए धर्मों का समन्वयात्मक दृष्टि से निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, ताकि समाज के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटा जा सके और मनुष्य समरस जीवन जी सके । इस दृष्टिविन्दु को लक्ष्य में रखकर पार्श्वनाथ विद्याधर शोष संस्थान के निदेशक एवं भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डा० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों पर एक बृहद्काय शोध-प्रबन्ध आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व लिखा था । उसी के समाज दर्शन से सम्बन्धित कुछ अध्यायों एवं अन्य लेखों से प्रस्तुत ग्रन्थ को सामग्री का प्रणयन किया गया है । हमें आशा है कि शीघ्र ही उनका महाप्रबन्ध प्रकाश में आएगा, किन्तु उसके पूर्व परिचय के रूप में यह लघु पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि वे उनके विद्वतापूर्ण प्रयास का कुछ आस्वाद ले सकें ।

प्राकृत भारती द्वारा इसके पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारशास्त्र एवं प्राकृत भाषा के ११ ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, उसी क्रम में यह उसका १२वाँ प्रकाशन है । इसके प्रकाशन में हमें लेखक का विविध रूपों में जो सहयोग मिला है उसके लिए हम उनके आभारी हैं । महावीर प्रेस, भेलूर ने इसके मुद्रण कार्य को सुन्दर एवं कलापूर्ण ढंग से पूर्ण किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी हैं ।

देवेन्द्रराज मेहता

विनयसागर

सचिव

संयुक्त सचिव

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जीन, बीड और गीठा का समाज दर्शन' नामक पुस्तक प्रकाशित करने हुए हमें अतीव प्रशंसना का अनुभव हो रहा है ।

आज के युग में जिस सामाजिक चेतना, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए यमों का समन्वयात्मक दृष्टि से विपरीत मूलभूतमक अभ्यसन ओषिष्ठ है, ताकि समाज के बीच बढ़ती हुई भाई की पाटा जा सके और मनुष्य ममरम धीवन की सने । इस दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य में रक्कर पार्श्वनाथ विद्याधर घोष संस्थान के निदेशक एवं भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त डा० रामरमल जीन ने जीन, बीड और गीठा के आचार दर्शनों पर एक बहुदृष्टय घोष-प्रबन्ध आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व लिखा था । उगी के समाज दर्शन में सम्मिश्रित कुछ अन्धकारों एवं अन्ध ऐसों से प्रस्तुत अन्ध की शापकी का प्रकाशन किया गया है । हमें आशा है कि दीप्त हो उनका महाप्रबन्ध प्रकाश में आवेगा, बिना इसके पूर्व परिचय के रूप में यह लघु पुस्तक पाठ्यों के समस्त प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि वे उनके विद्यार्थी प्रयास का कुछ आनन्द ले सके ।

प्राकृत भारतीय द्वारा हमने पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारसंग्रह एवं अष्टांग योग के ११ अंकों का प्रकाशन हो चुका है, उगी अन्ध में यह समस्त ११वीं प्रकाशन है । इसके प्रकाशन में हमें कैलक का विविध रूपों में को सहयोग मिला है उनके लिए हम उनके आभारी हैं । महावीर देव, देहपुर ने हमारे मूलक कार्य को सुन्दर एवं संपूर्ण बनाने में पूर्ण विज्ञा, एडरब हम उनके भी आभारी हैं ।

देवेन्द्रराज मेहता

विनयतामर

मन्त्रि

मन्त्रि मन्त्रि

प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राक्कथन

समाज दर्शन दर्शनशास्त्र की एक नवीन शाखा है। प्राचीन दार्शनिक जैसे प्लेटो, अरस्तु आदि ने अपने दार्शनिक चिन्तन में समाज से सम्बन्धित अवधारणाओं, मान्यताओं, नियमों एवं मिश्रणों का विश्लेषण, विरूपण एवं मूल्यांकन तो किया है किन्तु उनके दर्शन में समाज दर्शन को एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्थान नहीं मिला है। दर्शन जगत् में इसे स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकसित हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ है फिर भी इसकी आवश्यकता एवं महत्ता के कारण दार्शनिक चिन्तन धारा में इसे एक निश्चित स्थान प्राप्त हो गया है। यही कारण है कि अनेक दार्शनिक समाजदर्शन को अपने चिन्तन का मुख्य विषय मानने लगे हैं और इसकी विविध समस्याओं एवं विविध प्रश्नों को लेकर अनेक शोध कार्य एवं स्वतन्त्र अध्ययन हो रहे हैं तथा अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी यह कहना पड़ता है कि इन अध्ययनों में पाश्चात्य चिन्तकों एवं दार्शनिकों की दृष्टि को ही विशेष महत्त्व मिला है, भारतीय विचार धारा को आधार मानकर इस विषय पर अभी बहुत कम अध्ययन हुए हैं।

भारतीय चिन्तन के साहित्य में समाज दर्शन के विविध पक्षों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री है किन्तु इस तथ्य को सभ्य रूप में उद्घाटित करने वाले अध्ययनों की बहुत कमी है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस कमी की पूर्ति को दिशा में एक सकल एवं सशक्त प्रयास है। इसमें जैन, बौद्ध एवं गीता के आधार पर समाज दर्शन से सम्बन्धित विविध पक्षों एवं समस्याओं का विश्लेषण, विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जैन (निदेशक, पार्वनाथ विद्याभ्रम शोध संस्थान, वाराणसी) न केवल भारतीय दर्शन के रुचकप्रतिष्ठ पण्डित हैं अपितु पाश्चात्य दर्शन एवं विशेष रूप से समाज दर्शन के भी ख्यातिलब्ध विद्वान् हैं। यह अध्ययन समाज दर्शन के क्षेत्र में नवीन होती हुए भी विश्लेषणपूर्ण, गम्भीर एवं विचारोत्पादक है। इस अध्ययन के आधार के रूप में जैन, बौद्ध और गीता को लिया गया है, जो स्वतन्त्र रूप से तीन अवस्थाओं एवं तीन परम्पराओं से सम्बन्धित हैं जिनमें भारतीय समाज की समग्रता सन्निविष्ट है। इसलिए यह ग्रन्थ भारतीय समाजदर्शन का समग्र अध्ययन न होने हुए भी इसका प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है।

भारतीय समाज दर्शन की विषय वस्तु एवं क्षेत्र के समुचित निर्धारण न होने के कारण यह कहना कठिन है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय समाज दर्शन के समस्त पहलुओं का समावेश हो सका है अथवा नहीं। फिर भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि

इसमें भारतीय समाजदर्शन के अधिकांश पहलुओं एवं समस्याओं का समावेश किया गया है। विद्वान् लेखक ने भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को वैदिक युग, औपनिषदिक युग एवं जैन बौद्ध युग में विभक्त कर सामाजिक चेतना के विकास का विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वार्थ एवं परार्थ की अवधारणा में विरोध-दृष्टि पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय चिन्तकों को परस्पर विरोधी दो वर्गों में विभक्त करती है। हाजस, मोत्से आदि स्वार्थ को मानव के लिए परम स्पृहणीय मानकर स्वार्थवाद को स्थापना करते हैं और इसे ही नीतिशास्त्र के श्रेष्ठ एवं समुचित मिद्वान्त होने का दावा करते हैं। इसके विपरीत मिल, वेन्सम आदि परार्थ को मानव के लिए अनुपेक्षणीय एवं अपरिहाय्य मानकर परार्थवाद की स्थापना करते हैं और इसे नैतिकता के मूल्यांकन का उत्कृष्ट मानदण्ड मानते हैं। भारतीय चिन्तन धारा में स्वार्थ एवं परार्थ में विरोध न देखकर सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने स्वहित बनाम लोकहित में बाह्य विरोध प्रदर्शन के साथ आन्तरिक सामञ्जस्य की पुष्टि घड़ी कुशलता के साथ की है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ वर्णाश्रम व्यवस्था है। इसमें मुख्य रूप से वर्णव्यवस्था को वैदिक परम्परा की देन माना जाता है और यह भी मान्यता देखने को मिलती है कि श्रमण परम्परा का विकास इस वर्ण व्यवस्था की विरोधी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। किन्तु विद्वान् लेखक ने सप्रमाण यह प्रदर्शित किया है कि वर्ण व्यवस्था न केवल ब्राह्मण परम्परा में मान्य रही है अपितु समान रूप से यह श्रमण परम्परा में भी स्वीकृत रही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ ब्राह्मण परम्परा में वर्ण के निर्धारण की कसौटी के रूप में जन्म एवं कर्म सम्बन्धी विवाद बहुत काल तक चलता रहा है वहाँ जैनाचार्यों एवं बौद्धाचार्यों ने निर्विवाद रूप से वर्ण निर्धारण की कसौटी के रूप में कर्म को स्वीकार कर लिया है। इसी संदर्भ में स्वधर्म के निर्धारण का प्रश्न भी अपनी जटिलता के साथ उपस्थित होता है। वर्ण व्यवस्था को अपरिवर्तनशील एवं स्थिर मानने वाली वैदिक परम्परा के लिए स्वधर्म की व्याख्या अत्यधिक सहज एवं सरल रूप में हो जाती है। वहाँ वर्ण के लिए विहित कर्मों को वर्णविलम्बी व्यक्ति का स्वधर्म मान लिया जाता है किन्तु वर्ण को परिवर्तनीय एवं अस्थिर माननेवाली जैन एवं बौद्ध परम्परा के लिए स्वधर्म की व्याख्या एक जटिल समस्या का रूप ग्रहण कर लेती है। इन सभी प्रश्नों का लेखक ने गम्भीरता से विश्लेषण एवं विवेचन करने का प्रयास किया है।

भारतीय समाज दर्शन की मौलिक विशेषता के रूप में लेखक ने सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व का विवेचन घड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। इसके अन्तर्गत अहिंसा, अनाग्रह एवं अपरिग्रह की भावना को विशेष महत्त्व प्रदान किया है तथा यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सामाजिक जीवन के विविध आयामों में इन भावनाओं का उपयोग किस प्रकार होता रहा है। साथ ही साथ सामाजिक धर्म एवं सामाजिक दायित्व

में किसी अकेले व्यक्ति का नैतिक बन पाना यदि असम्भव नहीं तो गहज सम्भव भी नहीं है। आज व्यक्ति और समाज-मुधार के लिए एक दोहरे प्रयत्न की आवश्यकता है। व्यक्ति और समाज दोनों के सुधार के सामूहिक प्रयत्नों के बिना आज की दूषित एवं भ्रष्ट सामाजिक स्थिति से छुटकारा पाना असम्भव है।

आज एक ओर समाजवादी विचारधारा समाज को प्रमृगता देकर व्यक्ति की गीण बनाती है तो दूसरी ओर प्रजातन्त्रवादी विचारधारा व्यक्ति को प्रमृग बनाकर समाज की गीण बनाती है, किन्तु दोनों की विचारधाराएँ आज अपने अभीष्ट लक्ष्य को पाने में सफल नहीं है। मानव को जो अपेक्षित है वह उसे न तो कम और चीन की समाजवादी व्यवस्थाएँ ही दे सकती हैं और न अमेरिका का प्रजातन्त्र ही। यदि हम मानवता को अपनी इच्छित मुग और शांति देना चाहते हैं तो हमें व्यक्ति और समाज दोनों को परस्पररोपजीवी और सममूल्यवाला मानकर आगे चलना होगा। केवल व्यक्ति-मुधार के प्रयत्न और केवल समाज-मुधार के प्रयत्न तब तक सफल नहीं होंगे जब तक व्यक्ति और समाज दोनों के समवेत सुधार के प्रयत्न नहीं होंगे।

वस्तुतः व्यक्ति और समाज के बीच का यह द्वन्द्व काफी पुराना है और इसके कारण सामाजिक दर्शन में अनेक समस्याएँ उठी हैं। व्यक्ति और समाज में कौन प्रथम है यह तो एक विरन्तन समस्या है ही किन्तु इसके साथ ही जुड़ी हुई दूसरी समस्या है स्वहित और लोकहित के प्रश्न को। सामान्यतया स्वहित और लोकहित में एक विरोध देखा गया है किन्तु यह विरोध उन्हीं लोगों के लिए है जो व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक् देखते हैं। जो व्यक्ति और समाज को एक समग्रता मानते हैं और उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं मानते उनके लिए यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता। स्वहित और लोकहित वस्तुतः उसी तरह एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं जैसे व्यक्ति और समाज।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में प्राचीनकाल में ही समाज-दर्शन के सन्दर्भ तो उपस्थित हैं किन्तु उनकी सम्यक् अभिव्यक्ति के बहुत ही कम प्रयास हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में भारतीय सामाजिक चेतना को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। दूसरे अध्याय में स्वहित और लोकहित की समस्या का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में वर्णाश्रम की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। चौथे अध्याय में स्वधर्म की अवधारणा पर विचार किया गया है। पाँचवाँ अध्याय समाज जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में अहिंसा, अनाग्रह (वैचारिक सद्बिष्णुता) और अपरिग्रह (आर्थिक सम-वितरण) का विवेचन करता है। अन्तिम अध्याय में सामाजिक दायित्वों और कर्तव्यों की चर्चा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन दार्शनिक त्रैमासिक एवं मुधर्मा आदि पत्रिकाओं में मेरे प्रकाशित लेखों एवं मेरे शोध प्रबन्ध 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक एवं समीक्षामक अध्ययन' के कुछ अध्यायों को लेकर किया गया है। प्रस्तुत

कुलनामक अध्याय में मुझे अपाध्याय श्री अमरमुनिजी, पं० गुलाल जी, पं० दम्पुल-
भाई मानवणिया आदि के लेखनों से पर्याप्त दुःख मिली है, अतः उनके प्रति और उनके
अतिरिक्त भी जिन व्यक्तियों और व्यवहारों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग मिला
है उन सबके प्रति हृदय से आभारी हूँ। अपने गुरुजन डा० गी० पी० बड़ो एवं
डा० सदाशिव बनर्जी के प्रति भी आभार प्रकट करना मेरा अपना कर्तव्य है। काशी
विद्यापीठ के दर्शन विभागाध्यक्ष डा० रघुनाथ गिरि का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने
इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की।

प्राकृत भारती संस्थान के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता एवं श्री विजयसागरजी
के भी हम अत्यन्त आभारी हैं, जिनके सहयोग से यह प्रकाशन सम्भव हो सका है।
महावीर प्रेस ने जिस उत्सृष्टा और सुन्दरता से यह कार्य सम्पन्न किया है उसके लिए
उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है। अन्त में हम पादर्वनाथ विद्याश्रम
परिवार के श्री जमनालालजी जैन, डा० हरिहर सिंह, श्री मोहन लाल जी, श्री मंगल
प्रकाश मेहता तथा सोच छात्र श्री रविचकर मिश्र, श्री अरुण कुमार मिश्र, श्री निस्तारी
राम यादव और श्री विजय कुमार जैन के भी आभारी हैं, जिनसे विविधरूपों में सहा-
यता प्राप्त होती रही है। अन्तमें पत्नी श्रीमती कमला जैन का भी मैं अत्यन्त आभारी
हूँ, जिसके स्थान एवं सेवा भाव ने मुझे पारिवारिक उत्तराधिकारियों से मुक्त रखकर विद्या की
उपासना का अवसर दिया।

वाराणसी, १-१०-८२

सामरमल जैन



विषय-सूची

अध्याय : १ भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना १-१६

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना का विकास (१); वेदों एवं उपनिषदों में सामाजिक चेतना (२); गीता में सामाजिक चेतना (४); जैन एवं बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना (६), रागात्मकता और समाज (८); सामाजिकता का आधार राग या द्वेष ? (१०); सामाजिक जीवन में बाधक तत्त्व अहंकार और कषाय (११); संन्यास और समाज (१२); पुण्यार्थ चतुष्टय एवं समाज (१३)।

अध्याय : २ स्वहित बनाम लोकहित १७-३१

जैनाचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ (१८); जैन-भाष्यना में लोकहित (१८); सीयंकर (१९); गणनर (२०); सामान्य केवली (२०); आत्महित स्वार्थ नहीं है (२१); इन्द्र-लोकहित (२२); भाव-लोकहित (२२); पारमार्थिक-लोकहित (२२), बौद्ध दर्शन की लोकहितकारिणी दृष्टि (२२); स्वहित और लोकहित के सम्बन्ध में गीता का मन्तव्य (२९);

अध्याय : ३ वर्णाश्रम-व्यवस्था [३२-४२]

वर्ण-व्यवस्था (३२), जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था (३२); बौद्ध आचार दर्शन में वर्ण-व्यवस्था (३४); ब्रह्मज कहना झूठ है (३५); वर्ण-परिवर्तन सम्भव है (३६); सभी जाति समान हैं (३६); आवरण हो धोष्ट है (३६); गीता तथा वर्ण-व्यवस्था (३६); आश्रम-धर्म (४०); जैन-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त (४१); बौद्ध-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त (४२);

अध्याय : ४ स्वधर्म की अवधारणा ४३-४९

गीता में स्वधर्म (४३); जैनधर्म में स्वधर्म (४४); तुलना (४५); स्वधर्म का आध्यात्मिक अर्थ (४६), गीता का दृष्टिकोण (४८); ब्रेडले का स्वस्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त तथा स्वधर्म (४९);

अध्याय : ५ सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व ५०-९७

अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

अहिंसा (५१), जैनधर्म में अहिंसा का स्थान (५१); बौद्धधर्म में अहिंसा का स्थान (५२); हिन्दू धर्म में अहिंसा का स्थान (५३); अहिंसा का

आधार (५४); बौद्धधर्म में अहिंसा का आधार (५६); गीता में अहिंसा के आधार (५६); जैनागमों में अहिंसा की व्यापकता (५७), अहिंसा क्या है ? (५७); द्रव्य एवं भाव अहिंसा (५८); हिंसा के प्रकार (५८); मात्र शारीरिक हिंसा (५८); मात्र वैचारिक हिंसा (५८), वैचारिक एवं शारीरिक हिंसा (५९); धार्मिक हिंसा (५९); हिंसा की विभिन्न स्थितियाँ (५९), हिंसा के विभिन्न रूप (६०), संकल्प जा (संकल्पी हिंसा) (६०); विरोधजा (६०); उद्योगजा (६०); आरम्भजा (६०); हिंसा के कारण (६०); हिंसा के साधन (६०); हिंसा और अहिंसा मनोदशा पर निर्भर (६०); अहिंसा के माह्य पक्ष की अपहेलना उचित नहीं (६३); पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दिशा में (६४); पूर्ण अहिंसा सामाजिक सन्दर्भ में (६८); अहिंसा के सिद्धांत पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार (६९); यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थ विस्तार (७१); भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ विस्तार (७१); अहिंसा का विधायक रूप (७५); बौद्ध एवं बौद्धिक परम्परा में अहिंसा का विधायक पक्ष (७६); हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार (७७); अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) (७९); जैनधर्म में अनाग्रह (७९); बौद्ध आधार-दर्शन में वैचारिक अनाग्रह (८२); गीता में अनाग्रह (८३) वैचारिक सहिष्णुता का आधार-अनाग्रह (अनेकान्त दृष्टि) (८४); धार्मिक सहिष्णुता (८५); धर्म एक या अनेक (८५), अनुचित कारण (८६); उचित कारण (८६); राजनैतिक सहिष्णुता (८८); सामाजिक एवं पारिवारिक सहिष्णुता (८९); अनाग्रह की अवधारणा के फलित (८९); अनासक्ति (अपरिग्रह) (९०); जैन धर्म में अनासक्ति (९०), बौद्धधर्म में अनासक्ति (९२); गीता में अनासक्ति (९३); अनासक्ति के प्रदन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार (९४);

अध्याय : ६

सामाजिक धर्म एवं दायित्व

९८-११

सामाजिक धर्म (९८); ग्राम धर्म (९८), नगर धर्म (९८); राष्ट्र धर्म (९९); पास्तण्ड धर्म (९९); कुल धर्म (१००); वंशधर्म (१००); सधधर्म (१००); धृत धर्म (१०१); वारिध धर्म (१०१); अस्तिकाय धर्म (१०१); जैनधर्म और सामाजिक दायित्व (१०१); जैन मुनि के सामाजिक दायित्व (१०२); नीति और धर्म का प्रकाशन (१०२); धर्म की प्रभावना एवं संघ की प्रतिष्ठा की रक्षा (१०२); भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या (१०२); भिक्षुणी संघ का रक्षण (१०३); संघ के आदेशों का परिपालन (१०३); गृहस्थ वर्ग के सामाजिक दायित्व (१०३); भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा (१०३); परिवार की सेवा (१०३); विवाह एवं सन्तान प्राप्ति (१०४);

जैन धर्म में सामाजिक जीवन के निम्न मूल (१०६); जैन धर्म में सामाजिक जीवन के व्यवहार मूल (१०६); बौद्ध-परम्परा में सामाजिक धर्म (१०८); बौद्ध धर्म में सामाजिक दायित्व (१०९); पुत्र के माता-पिता के प्रति कर्तव्य (११०); माता-पिता का पुत्र पर प्रत्युपकार (११०); आचार्य (शिक्षक) के प्रति कर्तव्य (११०); गिष्य के प्रति आचार्य का प्रत्युपकार (११०); पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य (११०); पति के प्रति पत्नी का प्रत्युपकार (११०); मित्र के प्रति कर्तव्य (११०); मित्र का प्रत्युपकार (१११), सेवक के प्रति स्वामी के कर्तव्य (१११); सेवक का स्वामी के प्रति प्रत्युपकार (१११); श्रमण-ब्राह्मणों के प्रति कर्तव्य (१११); श्रमण-ब्राह्मणों का प्रत्युपकार (१११); वैदिक परम्परा में सामाजिक धर्म (१११) ।

१ भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना का विकास

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपस्थित सामाजिक मन्दर्मों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए, कि केषन कुल दार्शनिक प्रश्नान ही सम्पूर्ण भारतीय द्रष्टा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करन है, इन दार्शनिक प्रश्नानों में हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उगमें अनेकानेक सामाजिक मन्दर्म उपस्थित है। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक एवं गैदार्मिज ही नहीं है, यह अनुसृत्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है, कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञान-मीमांसीय (Epistemological) चिन्तन से ही संतोष धारण कर लेता हो। उगमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अस्तित्व जीवन के सफल संवादन के लिए है। उगका मूल दुःख की समस्या में है। दुःख और दुःख मुक्ति यही भारतीय दर्शन का 'अर्थ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रश्नान के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्पूर्ण जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की दृष्टि के लिए हैं। भारतीय चिन्तन में दर्शन की धर्म और मोक्ष से अविरोधता उगके सामाजिक मन्दर्म को और भी स्पष्ट कर देती है। यही दर्शन जानने की नहीं, अस्तित्व जीने की धनु रहा है, यह मात्र ज्ञान नहीं, अनुभूति है और इमीन्द्र यह कितामती नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्पूर्ण दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य हो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन माधवों और ज्ञानि मुनियों के हाथों में निजलकर तथा-नमित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलतः उगमें तार्किक तथा प्रधान तथा अनुभूतिमूक्त मानना एवं व्यावहारिक गीन हो गया और हमारी जीवन-नीति से उगका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि में भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

- १ वैदिक युग,
- २ औपनिषदिक युग, एवं
- ३ जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन-बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के दृष्टिकरण पर बल दिया गया।

वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पारम्परिक विचारक श्रद्धा का बंधन है कि 'मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मान सामाजिक हो है, तो वह मनुष्य में अधिक नहीं है। मनुष्य को मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है। मनुष्य, मनुष्य एक ही गाय सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही है। क्योंकि मानव व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। राग का तत्त्व उगम सामाजिकता का विनाश करता है, तो द्वेष का तत्त्व उगम वैयक्तिकता या स्व हिंसकारी दृष्टि का विकास करता है। जब राग का सीमाशेज मकुचित होता है और द्वेष का अधिक विस्तारित होता है, तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उगम वैयक्तिकता प्रभु होती है। किन्तु जब राग का सीमाशेज विस्तारित होता है और द्वेष का शेष कम होता है, तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहा जाता है। किन्तु जब वह बीतराग और बीतद्वेष होता है, तब वह अतिसामाजिक होता है। किन्तु अपने और पराये भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। बीतरागता की साधना में अनिवार्य रूप से 'स्व' की मकुचित सीमा को तोड़ना होता है। अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। साथ ही मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह बीतराग नहीं हुआ है, तो स्वभावतः ही एक सामाजिक प्राणी है। अतः कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता। यदों एवं उपनिषदों में सामाजिक चेतना

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक धारा में सामाजिकता का तत्त्व उसके प्रारम्भिक काल में ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक जीवन की मकरूपता के व्यापक मन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्चना करते हुए कहता है कि 'सगच्छध्व सवदध्व स वो मनाति जानताम्'—तुम मिलकर खलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें, अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो।^१ आगे पुनः वह कहता है—

समानो मन्त्रः समिति समानी,

समानं मनः सहचित्तमेवाम् ।

समानी व आकृति समाना हृदयानि च ।

समानमस्तु वो मनो यथा व सुमहासति ॥

अर्थात् आप सबके निर्णय समान हो, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-भी समान हो, आपके शब्द एक हो, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-ही ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।^२ सम्भवतः सामाजिक-एव समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये सबसे महत्वपूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियों का 'कृत्वतो विद्वमार्थम्' के रूप में एक सुसम्य एवं सुनिरुद्ध धानव-समाज की रचना का मिशन सभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन में

समाज निष्ठा के बीज का बरत करने । सहयोगपूर्ण जीवन-शैली का मूल मंत्र यह था । अथर्व ऋग्वेद पर दार्शनिकों के अध्ययन से वे जन-जन में सामाजिक चेतना के विकास का प्रयाग करने से । वे अपने दार्शनिकों में कहते थे—

ॐ सह माववतु सह भी भुवन्तु सह वीर्यं करवावहे,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ।^१

हम सब साथ-साथ रहिये हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आरत में विद्वेय न करें । वैदिक समाज दर्शन का आदर्श था—‘सप्त-दश समाहर, महसदृश’ सीकर’ सीकड़ों हाथों से बन्धन करो और हजार हाथों से बाँटो । किन्तु यह बाँटने की बात दया या दृष्टा नहीं है अपितु सामाजिक दायित्व का बोध है । क्योंकि भारतीय चिन्तन में दान के लिए सविभाग दान का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, दृष्टा, दया, कृपा ये सब गीण है । आचार्य वाचस्पति दान की व्याख्या की है ‘दान सविभाग’ । जैन दर्शन में तो अतिथि-सविभाग के रूप में एक रवतन्त्र वस्त्र की व्यवस्था की गई है । सविभाग दान करणा का प्रतीक न होकर सामाजिक अधिकार का प्रतीक है । वैदिक ऋषियों का निश्चय था कि जो अकेला जाता है वह पापी है (वेदनादी भवति केवलादी) जैन दार्शनिक भी कहते थे ‘असविभागी न हु तन्म मोक्षो’ जो सम-विभागी नहीं है उसकी मुक्ति नहीं होगी । इस प्रकार हम वैदिक युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाने हैं । किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है । औपनिषदिक ऋषि ‘एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा’ ‘सर्व सन्धिदं ब्रह्म’ तथा ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’ के रूप में एकरस की अनुभूति करने लगा । औपनिषदिकचिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्त्विक आधार प्रस्तुत किया गया । इस प्रकार जहाँ वेदों की सामाजिक-निष्ठा बहिष्मूली थी, वहीं उपनिषदों में आकर अन्तर्मसी हो गयी । भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकरस की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है । ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था —

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चारमानं ततो न विजुगुप्सते ॥^२

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है । सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और अब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो

जाना है जो पूर्ण और विज्ञान के साथ सब समाज को जोड़े है। इस प्रकार जो एक ओर अर्थशास्त्र विज्ञानों से सम्बन्धित को ध्यान में रखते हुए समाजशास्त्र के विचारों पूर्ण एवं विज्ञान के तरीकों को सम्मान करते हुए समाज विज्ञान, तथा दूसरी ओर उन्होंने समाज के वैयक्तिक अस्तित्व का विचार करते ही उसे सम्मान पूर्ण सामूहिक समाज का विचार भी सम्मान किया। ईसाइयता के विचारों से ही जन्म हुआ है।

ईसाइयतमिदं सर्वं निमित्तम् अगमो जगत् ।

तेन एवमेव मुञ्चतीति सा मुनः कथयिष्यताम् ॥^१

अर्थात् इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है ऐसा कुछ भी नहीं है, इसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार इश्वर के पूर्णत्व में वैयक्तिक अस्तित्व का विचार करके समाज को प्रधानता दी गई है। इश्वर के गुणगान में इश्वर के उपयोग एवं समूह के अधिकार को सर्वोपरि करने हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपस्थिति है उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, समूह या सामाजिक मन करो क्योंकि समाज ही ही एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिक चेतना के विकास के लिए हमने अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि सोपी जो ने इस इश्वर के सदस्यों में कहा था कि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ गूँथ हो जाये किन्तु यह इश्वर बना रहे तो यह अनेका ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। 'तेन एवमेव मुञ्चतीति' से समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

गीता में सामाजिक चेतना

यदि हम उपनिषदों से महाभारत और उसके ही एक अर्थ गीता की ओर आते हैं तो यहाँ भी हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में हमें समाज की आंगिक सम्बन्धना का बहु दिग्दर्शन परिलक्षित होता है, जिस पर पादचार्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। गीता भी इस एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि—

‘आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

शुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोत्तमः ॥^२

शुभ दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है वही सच्चा, इतना ही नहीं, वह तो हमारे भागें यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन ही है जो हमें एकात्मता की अनुभूति कराता है—‘अविभक्त विभक्तैः तु तज्ज्ञानं

विशिष्ट मानिषम् ।^१ वैदिक विभिन्नताओं में भी एकारमता की अनुमति ही मान की साम्प्रदायिकता और हमारे समाज-विष्ठा का एक मात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से भी 'सर्वभूत हिने रताः' का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनात्मन भाव से मुक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करने रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्त्र है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं—

‘ते प्राप्नुयन्ति मामेव सर्वभूतहिने रताः’^२

मान इत्यादि नहीं, गीता में सामाजिक दायित्वों के निर्बन्धन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण रूप से बिना भोग करता है वह भीताचार की दृष्टि में और (इति एव म ३:१२)। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है वह पाप का ही अन्त करवा है। (मुञ्चते ते खलं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ३:१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है इसलिए हमने समाज की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि—

‘साम्यात् कर्मणां ध्यातं संन्यासः कथयति विदुः’^३

काम्य अर्थात् स्वायं मुक्तियों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरति और निष्क्रिय हो जाना संन्यास नहीं है। सत्त्व संन्यासी का लक्षण है समाज में रहकर लोककल्याण के लिए अनात्मन भाव से कर्म करता रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं करोति यः।

न संन्यासः न योगी न न निरति न चाश्रितः ॥^४

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-विष्ठा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिद्भीर्षु, आत्मसमृद्धम्)।^५ गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण-अवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह भी सामाजिक दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन कहीं निहित स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया। वस्तुतः वेदों में एवं स्वयं गीता में भी जो विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पत्ति के रूप में वर्णों की अवधारणा है वह अन्य कुछ नहीं बलितु समाज-पुरुष के विभिन्न अंगों की अवधारणा है और किसी सीमा तक समाज के आत्मिकता सिद्धांत का ही प्रस्तुतीकरण है।

सामाजिक जीवन में विषमता एवं सवर्ण का एक महत्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत भी ईशावास्योपनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर अस्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है—

यावन् भ्रियेत जठर, तावन् स्वप्न देहिनाम् ।

अधिको योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ॥^१

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वप्न मानना सामाजिक दृष्टि से खोरी है, अनपेक्षित चेष्टा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी दार्शन पर खड़ा है, योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन की उमकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का, जो वर्गीकरण है, उगमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एक मात्र कमीटी है— किन्ना कर्म का लोक-संगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। वहाँ भी गया है—

‘परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्’

जो लोक के लिए हितकर है वरुमाणकर है, वह पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूगरों के लिए पीडा-जनक है, असंगलकर है वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्याएँ भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित हैं।

जैन एवं बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना

यदि हम निवर्तक धारा के सम्पर्क जैनधर्म एवं बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रचलित दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की अपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्ति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन समाज-परक होने हैं। किन्तु मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्तक धारा के सम्पर्क जैन, बौद्ध आदि दर्शन असामाजिक हैं या इन दर्शनों में सामाजिक संदर्भ का अभाव है, निरान्त भ्रम होगा। इनमें भी सामाजिक भावना से परादुमुगता नष्टा दिखाई देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना में प्राण मिटि का उपभोग सामाजिक बन्धन को दिना में ही होना चाहिए। महावीर और बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-परम्परा लोक-संगल के लिए कार्य करने लगे। यद्यपि इन निवृत्ति-प्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सम्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की बुद्धि का प्रयोग परिलक्षित होता है। सामाजिक सम्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक दार्शिकों की निर्वाह अथवा समाज-जीवन को दृष्टि बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है।

... के पक्ष महाजन, बौद्ध दर्शन के पक्षील और मोग दर्शन के पक्षधर्म का

क्रिया गया है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण का उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुतः इन दर्शनों में आचार बुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके धर्म के निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की बुद्धि पर बल दिया।

रागात्मकता और समाज

सम्भवतः इन दर्शनों को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है उनमें प्रमुख हैं—राग या आसक्ति का प्रह्वान, सन्धास या निवृत्तिमार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये हो ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करने हैं। अतः भारतीय सदर्भ में इन प्रत्ययों को सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या लुब्धा को समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और सामान्य-तया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति को समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र में सब टूट जाने है, वास्तविकता तो यह है, कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे व्यवहार सामाजिक सवध ही नहीं बन पाने। सामाजिक जीवन और सामाजिक गवधों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर लड़े होते हैं तो इन गवधों में टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बौद्धपरिचय में आचार्य चान्तिदेव लिखते हैं—

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यत्तानि दुःखानि भवानि चैव ।

सर्वानि सन्ध्यामपरिवर्द्धेण तद् किं समानेन परिवर्द्धेण ॥

आत्मलज्जपरिहृय्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।

यथा निजपरिहृय्य दाहं रक्षतुं न शक्यते ॥

मना के सभी दुःख और भय एवं तन्त्रय उपद्रव समान के कारण होते हैं। जब सम्बन्ध बुद्धि का परिष्कार नहीं किया जाता तब तक इन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं

है। जैमे अग्नि का परित्याग किये बिना तृज्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे सब्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होने हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद साम्प्रदायिकता और सकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय धुड़ स्वाधों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता को एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होना है वह सब पर नहीं हो सकता है। अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की सकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित को उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाने हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपने रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सोमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सधन रूप हममें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर बड़ा होता है अतः बीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति या रागात्मकता ही प्रमुख है। आसक्ति, ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में

संग्रह, आर्सेन और बरतार के तन्त्र जगमगे हैं। अतः यह कहना उचित ही होगा कि इन दर्शनों ने राग या आगति के प्रत्यक्ष पर बल देकर सामाजिक नियमों को समाप्त करने एवं सामाजिक सम्यक् की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज हराग एवं समर्पण पर गढ़ा होता है जीता है और विरगित होता है, यह भारतीय चिन्तन का महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। यन्त्रुत आगति या राग तन्त्र की उपस्थिति में मन्वी सार्वभौम सामाजिकता उचित नहीं होती है।

सामाजिकता का आधार राग या विवेक ?

सम्भवतः यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होगा या गहरा है कि राग के प्रभाव में सामाजिक सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्व क्या होगा ? राग के अभाव में तो तारे सामाजिक सम्बन्ध खरमरा कर टूट जायेंगे। रागात्मकता ही तो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है। अतः राग सामाजिक-जीवन का एक आवश्यक तत्व है। यन्त्रु में ही अपनी विनम्र धारणा में जो तत्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है, वह राग नहीं, विवेक है। तत्त्वार्थसूत्र में इस बात की खर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक-दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उनमें जहाँ पुद्गल-द्रव्य को जीव-द्रव्य का उपकारक कहा गया है, वहाँ एक जीव को दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है 'परस्परगोपद्रहो जीवानाम्'। चेतन-मत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है, तो चेतन-मत्ता का हो कर सकती है। इस प्रकार पारस्परिक हित-साधन यह जीव का स्वभाव है और यह पारस्परिक हित-साधन की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है। इस स्वाभाविक-वृत्ति के विकास के दो आधार हैं—एक रागात्मक और दूसरा विवेक। रागात्मकता हमें वही से जोड़ती है, तो वही से तोड़ती भी है। इस प्रकार रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानने हैं, तो उसके विरोधी के प्रति 'पर' का भाव भी आ जाता है। राग द्वेष के साथ ही जोता है। वे ऐसे जुड़वा यन्त्रु हैं, जो एक साथ उत्पन्न होने हैं, एक साथ जीने हैं और एक साथ मरने भी हैं। राग जोड़ता है, तो द्वेष तोड़ता है। राग के आधार पर जो भी समाज लड़ा होगा, तो उसमें अनिवार्य रूप से वर्णभेद और वर्णभेद रहेगा ही। मन्वी सामाजिक-चेतना का आधार राग नहीं, विवेक होगा। विवेक के आधार पर दायित्व-बोध एवं कर्तव्य-बोध की चेतना जागृत होगी। राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्य की भाषा है। जहाँ केवल अधिकारों की बात होती है, वहाँ केवल विवृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं, कर्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार 'विवेक' होता है, कर्तव्य-बोध होता है। जैन-धर्म ऐसी ही सामाजिक-चेतना को निमित्त करना चाहता है। अब

एवं मर्यादात्मक सामाजिक जीवन की सुरक्षा है। दास बनने के लिए गरीब समाजों के रूप में जिन मूल्य मर्यादाओं की स्थापना की गई, वे पूर्णतः सामाजिक जीवन में सम्मिलित हैं। अंग-मर्यादों के अभाव में अनात्मिक एवं नीचता के पाप पर जो कुछ बल दिया है वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

संन्यास और समाज

सामान्यतया भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय ने समाज-निरोध माना जाता है, किन्तु क्या संन्यास की पारम्परिक समाज-निरोध है? निरन्तर ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है किन्तु इससे क्या वह अनात्मिक हो जाता है? संन्यास के मूल में वह कहता है कि 'विराग-पुरुष-लोके-परा-मया परित्यक्ता' अर्थात् मैं अपने-पारिवारिक, सामान-नामना और धन-नामना का परित्याग करता हूँ किन्तु क्या धन-सम्पत्ति, सम्पत्ति तथा धन-वीर्य की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है? संन्यास-समस्त एकाग्रता का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वागनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह सत्त्व उमे समान-विमुख नहीं बनाता है, अतः समाज-व्यवस्था की उच्चतर भूमिका पर अविवक्षित करता है क्योंकि गन्धर्व लोके-हित नि-स्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन संन्यास को समाज-निरोध नहीं मानता। भगवान् बुद्ध का यह आदेश 'चरत्य भिक्खवे चारिक बहुजन-हिताय बहुजन-मुखाय लोकानुकम्पाय अरथाय हिताय देव मनुस्मान' (विनयपिटक-महावग्ग) इस बात का प्रमाण है कि संन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अलग होकर उमे अधिकतम देता है। यस्तुतः वह कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इत्यादि करता है कि समाज का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी का नहीं है। संन्यासी नि-स्वार्थ और नि-व्याम रूप से लोक-मंगल का साधक होता है। संन्यास शब्द सम्पूर्वक त्याग है, त्याग शब्द का एक अर्थ देवदेव करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप में एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है। संन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि संन्यासी लोके-पणा से मुक्त है, बुद्ध या स्वार्थ बुद्धि से काम करता है तो संन्यासी नहीं है और यदि लोक की सेवा करता है, लोकमंगल के लिए प्रयास नहीं करता है तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मीमांसा तो 'सर्वभूत-हिने रतः' का है।

१. ऐतन्त्र इमं व्याख्या के लिए महेंद्र मुनि जी का आभारी हूँ।

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

संन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है। किन्तु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है। फिर भी वह भलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उग भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराये के विचार से ऊपर हो जाता समाज विमुक्तता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है —

अय निज परो वेति गणना लघुचेतनाम् ।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'माय' (जब) के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव की होती है। जैन-धर्म में कहा भी गया है —

सम दृष्टि जीवहा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।

अन्तरसू स्यादा रहे जू पाप शिलावे बाल ॥

वस्तुतः निर्ममत्व एवं निस्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक-मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दु प्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचा-कर लोकमंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। संन्यासी शुद्ध स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है, जो आदर्श समाज-रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

पुरुषार्थ चतुष्टय एवं समाज

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक जीवन के मन्दर्म में इन पर विचार करते हैं तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन में जुड़ा हुआ हो होता है। किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है क्योंकि धर्म को 'धर्मो रक्षते प्रजा' के

इस इन्कार भी नहीं कर सकते क्योंकि जीवन-मुक्ति एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन में अर्हत् एवं बोधिमत्त्व और वैदिक दर्शन में स्थित-प्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व की जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, भाग्य इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अधिक महत्त्व दिशा गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिमत्त्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिमत्त्व तो लोकमंगल के लिये अपने बन्धन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है—

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःख विगच्छति । उत्पाद्यमेव तद् दुःख मयमेव परात्मनो ।
मुच्यमानेषु सार्वेषु ये ते प्रमोद्यमानराः । तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारम्भेन किम् ॥^१

यदि एक के बन्ध उठाने से बहूनों का दुःख दूर होता हो, तो बहूनापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणिमों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने सार्वभौम को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि—

प्रायेण देवमुनय स्वविमुक्तिव्रताः ।
मोक्षं चरन्ति विज्ञेयं परार्थनिष्ठाः ॥
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेव ।

‘हे प्रभु अपनी मुक्ति की वासना करने वाले देव और मुनि तो अब तक बायीं हो चुके हैं, जो अगम में जाकर मोक्ष साधन किया करने थे। किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो क्षेपणा इतन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।’ यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसी प्रकार बोधिमत्त्व भी सदैव ही लोक और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के परचाप ही मुक्त होना चाहता है।

मवेन्दुनवीज्योर्हं वाक्पुत्रं न निर्बुधाः ॥^२

वस्तुन मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में त्रिनोवा भावे के उद्गार विचारणीय हैं —

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हृदिपाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है, 'मैं' के आने ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।^१

इसी प्रकार साम्प्रतिक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तिस्व की समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—

सर्वस्वागदच निर्वाण निर्वाणायि च मे मतः ।

त्यक्तव्य चेन्मया सर्वं वरं मत्स्वंपु दीयताम् ॥^२

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अतिक्रम दुःख, मानवीय संघर्षों के कारण ही है। अतः मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के सबर्णों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक कष्टों से मुक्ति रूप में मोक्ष उपादेयता और मार्थकता को सम्बोद्ध भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है —

सर्वेभ्य मुक्तिं सन्तु । सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु । मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥



नैतिक चिन्तन के प्रारम्भ बाल से ही स्वहित और लोकहित का प्रश्न महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय परम्परा में एक ओर चाणक्य का कथन है कि स्त्री, धन आदि सबने बड़कर अपना रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।^१ विदुर ने भी कहा है कि जो स्वार्थ को छोड़कर परार्थ करता है, जो मित्र (दूसरे लोगों) के लिए धर्म करता है वह मूर्ख ही है।^२ दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि स्वहित के लिए तो सभी जीते हैं, जो लोकहित के लिए जीता है, उसका जीना सच्चा है।^३ जिसके जीने में लोकहित न हो, उससे तो मरण ही अच्छा है।^४

पारश्चात्य विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने तो इस प्रश्न को नैतिक सिद्धान्तों के चिन्तन की वास्तविक समस्या कहा है। यहाँ तक कि पारश्चात्य आचार-शास्त्रीय विचारधारा में तो स्वार्थ और परार्थ की धारणा को लेकर दो पक्ष बन गये। स्वहितवादी विचारक जिनमें हार्मन, मोल्सो आदि प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या केवल स्वहित या अपने लाभ से प्रेरित होकर कार्य करता है। अतः नैतिकता का वहाँ सिद्धान्त समुचित है जो मानव-प्रकृति की इस धारणा के अनुकूल हो। इनके अनुसार अपने हित के लिए कार्य करने में ही मनुष्य का ध्येय है। दूसरी ओर वेन्थम, मिल प्रभृति विचारक मानव की स्वमुखवादी मनोवैज्ञानिक प्रकृति को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि परहित की भावना ही नैतिक दृष्टि से न्यायपूर्ण है अथवा नैतिक जीवन का साध्य है।^५ मिल परार्थ को स्वार्थ के बौद्धिक आधार पर सिद्ध करके ही सन्तुष्ट महसूस हो जाने, वरन् आंतरिक अंकुश (Internal Sanction) के द्वारा उसे स्वाभाविक भी सिद्ध करते हैं उनके अनुसार यह आन्तरिक अंकुश मजबूतीयता की भावना है। यद्यपि यह जन्मजात नहीं है, तथापि अस्वाभाविक या अनैतिक भी नहीं है।^६ दूसरे, अन्य विचारक भी जिनमें बटलर, शापेनहावर एव टान्स्टाय आदि प्रमुख हैं, मानव की मनोवैज्ञानिक प्रकृति में सहानुभूति, प्रेम आदि की उपस्थिति दिखाकर परार्थवादी या लोकमंगलकारी आचार-दर्शन का समर्थन करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर से

१. चाणक्यनीति, १।६, पञ्चतन्त्र १।३८७

२. विदुरनीति, ३६

३. सुभाषिन-उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २०८

४. वही, पृ० २०५

५. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३७

६. यूटिलिटेरियनिज्म, अध्याय २, उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १

बाली और सबका कल्याण (गर्वोदय) करनेवाली है ।^१ इससे ऊँची लोकमंगल की कामना क्या हो सकती है ? प्रत्यभ्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है ।^२ जैन-साधना लोक-मंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है । उसी सूत्र में आगे कहा है कि जैन-साधना के पाँचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही हैं ।^३ अहिंसा की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाली है ।^४ यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण के समान है, पशियों के आकाश गमन के समान निर्बाध रूप से हितकारिणी है । प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है ।^५ तीर्थङ्कर-नमस्कारसूत्र (नमोत्पन्न) में तीर्थङ्कर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदोष, अमय के दाता आदि जिन विशेषणों का उपयोग हुआ है, वे भी जैनदृष्टि की लोकमंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं । तीर्थङ्करों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए ।^६ यदि यह माना जाये कि जैन-साधना केवल आत्महित, आत्मरक्षाय का साधन बहली है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थप्रवर्तन या संघ-नवाचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना दोष ही नहीं रहता । अतः मानना पड़ेगा कि जैन-साधना का आदर्श आत्मकल्याण ही नहीं, बरन् लोक-कल्याण भी है ।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही अधिक महत्त्व दिया है । जैन-दर्शन के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से समान ही होते हैं, फिर भी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के आधार पर उनमें उच्चावच अवस्था की स्वीकार किया गया है । एक सामान्य केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ समान ही होती हैं, फिर भी अपनी लोकहितकारी दृष्टि के कारण ही तीर्थंकर को सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है । आचार्य हरिमद के अनुसार जीवन्मुक्तावस्था की प्राप्ति कर लेने वालों में भी उनके लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं—
१ तीर्थंकर, २ गणधर, ३ सामान्य केवली ।

१. तीर्थंकर—तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना-मार्ग में आता है और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा

१. सर्वोदयदर्शन, आमुष, पृ० १ पर उद्धृत ।

२. प्रत्यभ्याकरणसूत्र, २।१।२

४. बहो, २।१।४

५. सूत्रसंग्रह (टी०) १।१।४

३. बहो, २।१।२।२

६. बहो, २।१।२।२

रहता है। सचहित, सर्वोदय और लोक-कल्याण ही उनके जीवन का स्नेह बन जाता है।^१

२ गणपद—गृहस्थी-रहित के संकल्प को लेकर साधना-योग में प्रविष्ट होने वाला और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर भी गन्तव्यों के दिन एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील साधक गणपद है। समुद्र-हित या गण-कल्याण गणपद के जीवन का ध्येय होता है^२।

३ सामान्य केवली—आत्म-कल्याण को ही जितने अपनी साधना का ध्येय बनाता है और जो इसी साधना पर साधना-मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है वह सामान्य केवली कहलाता है^३। सामान्य केवली को पारिवर्तित शास्त्रावली में मुक्त-केवली भी कहते हैं।

जैनधर्म में विश्व-कल्याण, सर्व-कल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गयी हैं, जिनसे विश्व-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। जिन प्रकार बौद्ध-विचारणा में बोधिमत्त्व और अर्हन् के आदर्शों में भिन्नता है उसी प्रकार जैन विचारणा में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तरतमता है।

दूसरे जैन-साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। सचहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से ऊपर है, संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परिष्कार करना भी आवश्यक माना गया है। आचार्य कालक की कथा इसका उदाहरण है^४।

स्थानागमून में जिन दस धर्मों (कसंध्यों)^५ का निर्देश किया गया है, उनमें सचधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म का उल्लेख इस बात का सबल प्रमाण है कि जैनदृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, बल्कि उसमें लोकहित या लोककल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित है।

यद्यपि जैन-दर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है परन्तु उसकी एक दार्ष्टिकता है कि परार्पण के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोककल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं, वे संसार की ही हैं, हमारी नहीं। सांसारिक उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अतः उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए, लेकिन आध्यात्मिक विवाग-या

१. योगबिन्दु, २८५-२८८।

२. वही, २८९।

३. वही, २९०।

४. निशीथधूर्ति, भा० २८६०।

५. स्थानाग, १०।७६०।

वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जाना उसे स्वीकार नहीं। ऐसा लोकहित जो व्यक्ति के चरित्र-व्यसन अवस्था आध्यात्मिक कुण्ठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है लोकहित और आत्महित के सन्दर्भ में उसका स्वर्णिमसूत्र है—आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो, वहाँ आत्मन्याय ही थोड़ा है।^१

आत्महित स्वार्थ नहीं है—आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्मकाम वस्तुतः निष्काम होता है, क्योंकि उनकी कोई कामना नहीं होती। इसलिए उनका कोई स्वार्थ भी नहीं होता। स्वार्थ तो वह होता है जो यह चाहता है कि सभी लोग उसके हित के लिए कार्य करें। आत्मार्थी स्वार्थी नहीं है उसकी दृष्टि तो यह होती है कि सभी अपने हित के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं जबकि आत्महित या आत्मकल्याण का प्रारम्भ ही राग-द्वेष की वृत्तियों को क्षीणता से होता है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी है, जब उनमें राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। राग-भाव या स्वहित को वृत्ति से किया जाने वाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। शासन द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाजकल्याण अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए काम करता है। इसी तरह राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है। उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश-अर्जन की भावना या भावोलाम को प्राप्त के हेतु हो होते हैं। ऐसा परार्थ स्वार्थ ही होता है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से रहित अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है। लेकिन उस अवस्था में न तो 'स्व' रहता है न 'पर', क्योंकि जहाँ राग है वही 'स्व' है और जहाँ 'स्व' है वही 'पर' है। राग के अभाव में स्व और पर का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग विहीन भूमिका से किया जानेवाला आत्महित भी लोकहित होता है, और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं, कोई द्वैत नहीं है। उस दृष्टि में तो सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है, जिसमें न कोई अपना, न कोई पराया। स्वार्थ-परार्थ की समस्या यहाँ रहती ही नहीं।

जैन विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं:—

धैर, धीरे धीरे नीला का लबाब बन

१ इन्द्र लोहद्विज, २ मात लोहद्विज और ३ पारमार्थिक लोहद्विज ।

१ इन्द्र लोहद्विज—यह लोहद्विज का भौतिक स्वर है । भौतिक स्वरों की
जोना का कारण यदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोहद्विज करना लोहद्विज का
द्विजक स्वर है । यदि वह लोहद्विज के मातृ भौतिक होते हैं । इन्द्र-लोहद्विज तथा
यह के कारणों से बना या बना । यह व्यापारिक एवं गोपनीय वैज्ञानिक
है । यदि वह यह स्वरों की जोना भी नहीं की जा सकती । यदि लोहद्विज
को धारित से इन्द्र लोहद्विज मातृ लोहद्विज है । पारमार्थिक वैज्ञानिक विचारों के
द्विजक स्वरों पर लोहद्विज स्वरों का विचारों के

२ मात लोहद्विज—लोहद्विज का यह स्वर भौतिक स्वर से ऊपर का है । यह
लोहद्विज के मातृ लोहद्विज पर वैज्ञानिक होते हैं । यह स्वर पर पारमार्थिक स्वर का
कारण की व्यापारिक व्यापार होते हैं ।

३ पारमार्थिक लोहद्विज—यह लोहद्विज का सर्वोच्च स्वर है । यह पारमार्थिक
लोहद्विज के स्वरों का है । यह स्वर लोहद्विज का स्वर होता है ।
यह स्वर लोहद्विज के मातृ लोहद्विज का स्वर होता है ।

लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से ही प्रभावित होता है ।
लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।

लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।
लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।

लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।
लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।

लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।
लोहद्विज का स्वर मातृ लोहद्विज से प्रभावित होता है ।

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वही तो सावक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई रुचि नहीं रहती है। महायानो साधक कहता है—दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना !^१

लकावतारसूत्र में बोधिसत्व से यहाँ तक कहलवा दिया गया कि मैं तबतक परि-
निर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा जबतक कि विश्व के सभी प्राणी विमुक्ति प्राप्त न कर लें।^२ साधक पर-दुःख-विमुक्ति से मिलनेवाले आनन्द को स्व के निर्वाण के आनन्द से भी महत्त्वपूर्ण मानता है, और उसके लिए अपने निर्वाण सुख को ठुकरा देता है। पर-दुःख-कातरता और सेवा के आदर्श का इससे बड़ा सकल्प और क्या हो सकता है ? बौद्ध-दर्शन की लोकहितकारी दृष्टि का रस-परिपाक तो हमें आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थ शिशासमुच्चय और बोधिचर्यावतार में मिलता है। लोकमंगल के आदर्श की प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं, 'अपने सुख को अलग रख और दूसरों के दुःख (दूर करने) में लग'।^३ दूसरों का सेवक बनकर इस शरीर में जो कुछ वस्तु देख उससे दूसरों का हित कर।^४ दूसरे के दुःख में अपने सुख को बिना बँड बुद्धत्व की मिट्टि नहीं हो सकती। फिर मसार में सुख है ही कहाँ ?^५ यदि एक के दुःख उठाने से बहुत का दुःख चला जाय तो अपने पराये पर कृपा करके वह दुःख उठाना हो चाहिए।^६ बोधिसत्व की लोकमेवा की भावना का धित प्रस्तुत करते हुए आचार्य लिखते हैं, "मैं अनाथों का नाथ बनूँगा, यात्रियों का सारथवाह बनूँगा, पार जाने की इच्छावालों के लिए मैं नाव बनूँगा, मैं उनके लिए सेतु बनूँगा, धरनियाँ बनूँगा। दीपक चाहने वालों के लिए दीपक बनूँगा, जिन्हें शरणा की आवश्यकता है उनके लिए मैं शय्या बनूँगा, जिन्हें दास की आवश्यकता है उनके लिए दास बनूँगा, इस प्रकार मैं जगतों के सभी प्राणियों की सेवा करूँगा।"^७ जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक वस्तुएँ सम्पूर्ण धाकाज (विश्वमण्डल) में बने प्राणियों के सुख का कारण होती हैं, उसी प्रकार मैं आकाश के भीचे रहनेवाले सभी प्राणियों का उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूँ, जब तक कि सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।^८

साधना के साध सेवा की भावना का बितना सुन्दर समन्वय है। लोकसेवा, लोक-वल्याण-काटना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतमिह्वी

१. बोधिचर्यावतार, ८।१०८

२. लकावतारसूत्र, ६६।९

३. बोधिचर्यावतार, ८।१६१

४. वही, ८।१५९

५. वही, ८।१३१

६. वही, ८।१०५

७. वही, ३।१७-१८

८. वही, ३।२०-२१

उपाध्याय के स्वर में कहना पड़ता है, 'जितनी उदात्त भावना है। विद्व-चेतना के माथ अपने को आत्मसात् करने की जितनी विद्वत्ता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिटा देने का जितना अपादित उद्योग है'।^१ आचार्य शान्तिदेव भी वेदन् परोपकार या लोक कल्याण का सन्देश नहीं देने, वरन् उग लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्काम, भाव पर भी बल देने हैं। निष्काम भाव में लोककल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे उनके मौलिकचिन्तन का परिणाम हैं। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्काम भाव में कर्म करता रहे अपदा स्वयं की और सभी माथों प्राणियों को उसी पर दया का ही अंग मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकाशा के कर्म करता रहे। लेकिन निरोधरवादी और अन्तर्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव में लोकहित को उप-धारणा को सम्भव बनाया। समाज के मावयवता के जिस निदान्त के आधार पर ब्रेटले प्रभृति पादचार्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साजते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करने हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रंथों में बड़े स्पष्ट रूप में प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निस्वार्थ कर्म-योग की उप-धारणा को भी सकल बनाया है। ये कहने हैं कि, जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यामवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्याम में क्या अपनेपन उत्पन्न न होगा? अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्याम में समन्वयभाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होने हैं, वैसे ही सभी देहधारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं होंगे^२, अर्थात् वे भी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा या सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हा वह उसमें अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमसे उसमें क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ में पैर का कटक निहातकर दुःख में उसकी रक्षा करने हो? जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रजापुत्र मर्याद दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार आचार्य समाज की माव-यवता को सिद्ध कर उसके आधार पर लोकसंगत का सन्देश देने हुए आगे यह भी

१. बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ११२ २. बौद्धिकविचार, ८।११५

३. वही, ८।११४

४. वही, ८।१९

स्पष्ट कर देते हैं कि हम लोकमगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं, “जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती है उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है”^१ (क्योंकि परार्थ द्वारा हम अपने ही समाजरूपी शरीर की या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं) इसलिए एकमात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विनाशफल की इच्छा हो^२ ।”

बौद्ध-दर्शन भी आत्मार्थ और परार्थ में कोई भेद नहीं देखता। इतना ही नहीं, वह आत्मार्थ को परार्थ के लिए समर्पित करने के लिए भी तत्पर है। लेकिन उसकी एक सीमा है जिसे वह भी उसी रूप में स्वीकार करता है, जिस रूप में जैन-विचारकों ने उसे प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि लोकमगल के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, यहाँ तक कि अपने समस्त संचित पुण्य और निर्वाण का मुन भी। लेकिन वह उसके लिए अपनी नैतिकता को, अपने सदाचार को समर्पित करने के लिए तत्पर नहीं है। नैतिकता और सदाचरण को कोमल पर किया गया लोभ-वत्याण उसे स्वीकार नहीं है। एक बौद्ध साधक विगलित शरीरवाली भेड्या की सेवा-सुश्रूषा तो कर सकता है, लेकिन उसकी कामवासना को पूर्ति नहीं कर सकता। किसी मूल से ब्याकुल व्यक्ति को अपना भोजन भले ही दे दे, लेकिन उसके लिए चौर्य कर्म का आचरण नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन में लोकहित का वही रूप आचरणीय है जो नैतिक जीवन के सीमापथ में हो। लोकहित नैतिक जीवन से ऊपर नहीं हो सकता। नैतिकता के समस्त कर्तों को लोकहित के लिए समर्पित किया जा सकता है, लेकिन स्वयं नैतिकता को नहीं। बौद्ध विचारणा में लोकहित के पवित्र साध्य के लिए धृष्ट या अनैतिक मायन बचमर्च स्वीकार नहीं है। लोकहित वही तक आचरणीय है जहाँ तक उनका नैतिक जीवन से अविरोध हो। यदि कोई लोकहित ऐसा हो जो व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के बलिदान पर ही सम्भव हो, तो ऐसी दशा में वह बहुव्रत हिन आचरणीय नहीं है, बरन् स्वयं के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि ही आचरणीय है। धम्मपद में कहा है, व्यक्ति अपने अनुमाचरण से ही अगुड होता है और अनुम आचरण का सेवन नहीं करने पर हो गुड होता है। गुडि और अगुडि प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न है। दूसरा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को गुड नहीं कर सकता। इसलिए दूसरे व्यक्तियों के बहुत हित के लिए भी अपनी नैतिक गुडि की हित की हानि नहीं करे और अपने सच्चे हित और कल्याण को जानकर उसकी शान्ति में लगे।^३ मत्स्य में बौद्ध आचार-दर्शन में ऐसा लोकहित ही स्वीकार्य है, जिसका व्यक्ति के

१. बोधिसत्त्वोपदेश, ८११-११

२. वही, ८११-११

३. धम्मपद, ११५-११६

आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास से अविरोध है। लोकहित का विरोध हमारी भौतिक उपस्थिति में हो सकता है, लेकिन हमारे आध्यात्मिक विकास से उसका विरोध नहीं रहता। गचना लोकहित तो व्यक्ति की आध्यात्मिक या नैतिक प्रगति का सूचक है। इस प्रकार व्यक्ति की नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में सहायक लोकहित ही बौद्ध-साधना का प्राण है। उस अवस्था में आत्मार्थ और परार्थ अलग-अलग नहीं रहने हैं। आत्मार्थ ही परार्थ बन जाता है और परार्थ ही आत्मार्थ बन जाता है, वह निष्काम होता है।

यद्यपि बौद्ध दर्शन की हीनयान शाखा स्वहितवादी और महायान शाखा परहितवादी भावनों के आधार पर विभक्त हुई है, तथापि बुद्ध के भौतिक उपदेशों में हमें वही भी स्वहित और लोकहित में एकान्तवादिता नहीं दिखाई देती। तथागत तो मध्यममार्ग की प्रतिपादना के हेतु ही उत्पन्न हुए। वे भला एकान्तदृष्टि को कैसे स्वीकार करते। मध्यममार्ग के उद्देश्यक भगवान् बुद्ध ने अपनी देवता में तो लोकहित और आत्महित के बीच गहरे ही एक गां-ग-गुलन रखा है, एक अविरोध देखा है। लोकहित और आत्महित अलग-अलग नैतिकता की सीमा में है, तबतक न उनमें विरोध रहता है और न कोई गहराई होना है। तत्कालीन की भाषा में वे दोनों ही नैतिकता की महाकवि की दो उपस्थितियों के रूप होते हैं, जिनमें विपरीतता तो है, लेकिन व्यापकता नहीं है। लोकहित और आत्महित में विरोध और गहराई तो तब होता है, जब उनमें से कोई को नैतिकता का अतिक्रमण करता है। भगवान् बुद्ध का कहना यही था कि यदि आत्महित करना है तो वह नैतिकता की सीमा में करो और यदि परहित करना है तो वह भी नैतिकता की सीमा में, धर्म की मर्यादा में रहकर ही करो। नैतिकता और धर्म में पूरा होकर बिना जाने वाला आत्महित 'स्वार्थ साधन' है और लोकहित सेवा का निरा बौध है। बुद्ध ने आत्महित और लोकहित, धाना की ही नैतिकता के क्षेत्र में सादर परना और उनसे अतिक्रमण करना। श्री अरुणसिंह उपाध्याय के शब्दों में 'बुद्ध के भौतिक उपदेशों में आत्मविकास और परविकास, आत्मार्थ और परार्थ ध्यान और सेवा, दोनों का उचित सम्मेलन है। आत्मविकास और परविकास में बड़ा कोई विभाजक रेखा नहीं थी'। बुद्ध आत्मार्थ और परार्थ के सम्बन्ध का जाना पर बल देते हैं। उनके अनुसार परार्थ दृष्टि में आत्मार्थ और परार्थ में अतिक्रमण है। आत्मार्थ और परार्थ में विभाग तो उचित विभाग में निश्चित होता है जब हमारे दृष्टि का यह क्षेत्र तथा क्षेत्र में गुल होना है। इस क्षेत्र का क्षेत्र का प्रमाण देने पर उनमें कोई विरोध दिखाई ही नहीं देता। इस क्षेत्र का क्षेत्र का प्रमाण देने में ही है। अतः हम-देव नहीं है, बल्कि क्षेत्र का क्षेत्र क्षेत्र का क्षेत्र ? अब मध्यम मार्ग-देव में उपाय उद आना है तब बड़ा न आत्मार्थ

रहता है न परार्थ, वहाँ तो केवल परमार्थ रहता है। इसमें यथार्थ आत्मार्थ और यथार्थ परार्थ दोनों ही एकरूप हैं। तथायुक्त के अन्तेवासी विष्णु आनन्द कहने हैं, 'आयुष्मान्, जो राग से अनुरक्त है, जो राग के बशीभूत है जो द्वेष से दुष्ट है, द्वेष के बशीभूत है, जो मोह से मूढ़ है, मोह के बशीभूत है वह यथार्थ आत्मार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ परार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ को भी नहीं पहचानता है। राग का नाश होने पर, द्वेष का नाश होने पर—मोह का नाश होने पर—वह यथार्थ आत्मार्थ भी पहचानता है, यथार्थ परार्थ भी पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ भी पहचानता है।'

राग, द्वेष और मोह का प्रहाण होने पर ही मनुष्य अपने वास्तविक हित को, दूसरों के वास्तविक हित को तथा अपने और दूसरों के वास्तविक सामूहिक या सामाजिक हित को जान सकता है। बुद्ध के अनुसार पहले यह जानो कि अपना और दूसरों का अथवा समाज का वास्तविक कल्याण किसमें है। जो व्यक्ति अपने, दूसरों के और समाज के वास्तविक हित को समझे बिना ही लोकहित, परहित एवं आत्महित का प्रयास करता है, वह वस्तुतः किसी का भी हित नहीं करता है।

लेकिन राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बिना अपना और दूसरों का वास्तविक हित किसमें है यह नहीं जाना जा सकता? सम्भवतः सोचा यह गया कि चित्त के रागादि से मुक्त होने पर भी बुद्धि के द्वारा आत्महित या परहित किसमें है, इसे जाना जा सकता है। लेकिन बुद्ध को यह स्वीकार नहीं था। बुद्ध की दृष्टि में तो राग-द्वेष, मोहादि चित्त के मल हैं और इन मलों के होने हुए कभी भी यथार्थ आत्महित और परहित को जाना नहीं जा सकता। बुद्धि तो जल के समान है, यदि जल में गंदगी है, विकार है, खँबलता है तो वह यथार्थ प्रतिबिम्ब देने में कथमपि समर्थ नहीं होता, ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष ने मुक्त बुद्धि भी यथार्थ स्वहित और लोकहित को बनाने में समर्थ नहीं होती है। बुद्ध एक सुन्दर रूपक द्वारा यही बात कहने हैं भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गंदला हो, खचल हो और कोचड़-युक्त हो, वहाँ किनारे पर खड़े आँखवाले आदमी को न मीरों दिखाई दे, न शल, न ककर, न पत्थर, न खलती हुई या स्थिर मछलियाँ दिखाई दे। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मीले (राग-द्वेषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-ज्ञान दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परहित को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-दर्शन को जान सकेगा।

प्रधान तन्त्र परोपकार ही है, यद्यपि उगे अध्यात्म या परमार्थ का विरोधी नहीं होता था। गीता में भी जिन-जिन स्थानों पर लोकहित का निर्देश है, वही लिङ्गमत्ता की धार है ही। निष्काम और आध्यात्मिक या नैतिक तत्वों के अविरोध में रहा हुआ परार्थ ही गीता की मान्य है। गीता में भी स्वार्थ और परार्थ की समस्या का समाधान आत्मज्ञान सर्वभूतों की भावना में खोजा गया है। जब सभी में आत्मदृष्टि उत्पन्न हो जाती है तो न स्वार्थ रहता है, न परार्थ, क्योंकि जहाँ 'स्व' हो वहाँ स्वार्थ रहता है। जहाँ पर हो, वहाँ परार्थ रहता है। लेकिन सार्वभौमिक भाव में 'स्व' और 'पर' नहीं होने हैं, अतः उग दशा में स्वार्थ और परार्थ भी नहीं होता है। वही होता है वैश्व परमार्थ। भौतिक दृष्टियों में ऊपर परार्थ का स्थान सभी की मान्य है। स्वार्थ और परार्थ के सम्बन्ध में भारतीय आचार-दर्शनों के दृष्टिकोण की भर्तृहरि के इस कथन से भलीभाँति समझा जा सकता है—प्रथम, जो स्वार्थ का परित्याग कर परार्थ के लिए कार्य करते हैं वे मान्य हैं, दूसरे, जो स्वार्थ के अविरोध में परार्थ करते हैं अर्थात् अपने हितों का हनन नहीं करते हुए लोकहित करने हैं वे सामान्य जन हैं, तीसरे, जो स्वहित के लिए परार्थ का हनन करते हैं वे अपम (राक्षस) कहे जाते हैं, लेकिन चौथे, जो निरर्थक ही दुर्गों का अग्नि करते हैं उन्हें कदा कदा जाना, वे तो अधमाधम हैं।^१ फिर भी हमें यह ध्यान रखना होगा कि भारतीय विद्वानों में परार्थ या लोकहित अन्तिम तत्त्व नहीं है। अध्यात्म तन्त्र ही परमार्थ या आत्मार्थ। पाश्चात्य आचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ की समस्या का अन्तिम हल सामान्य धर्म में खोजा गया, जबकि विशेष रूप से जैन दर्शन में और सामान्य रूप से समस्त भारतीय विद्वानों में इस समस्या का हल परमार्थ या आत्मार्थ में खोजा गया। नैतिक धर्म के विभाग के साथ लोकमण्डल की साधना आध्यात्मिक विद्वानों का मूलभूत मान्य रहा है।

ऐसे अन्तर्द्वन्द्व की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य आनन्ददेव के निम्नोक्त श्लोक में मिलता है। श्लोक में अनुसृत उनकी निम्न पंक्तियाँ मिलती हैं—

इह नृलोकस्य सर्वत्र च,
 विद्वान् दर्शनं बन्धनमिति नीतिरिति विदितं है;
 विद्वान् बन्धनमिति विदितं है।
 जो बन्धन सब के लिए बान्धन बन्धन में बन्धित है,
 वे मुक्त हो निरन्तर से, स्वच्छन्द हो सब दुःख से,
 कुंठे दुःख के हनन से,

अहित बनाम मोक्षहित

हो ऐसा जग में, दुःख में बिखले न बौद्ध,
 वेदनाही हिले न बौद्ध, पाप बर्मे करे न बौद्ध,
 अरम्भमार्ग धरे न बौद्ध,
 हो गभी मुगदीन, दुष्टाचार धर्मवर्ती,
 मदरा ही परम बन्धान,
 मदरा ही परम बन्धान ।^१



आधार कर्म है। २. वर्ण परिवर्तनीय है। ३. श्रेष्ठत्व का आधार वर्ण या व्यवसाय नहीं, वरन् नैतिक विकास है। ४. नैतिक साधना का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला है। चारों ही वर्ण श्रमण-मस्या में प्रवेश पाने के अधिकारी हैं। यद्यपि प्राचीन समय में श्रमण-मस्या में चारों ही वर्ण प्रवेश के अधिकारी थे, यह आगमिक प्रमाणों से निश्चित है, लेकिन परवर्ती जैन आचार्यों ने मातङ्ग, मछुआ आदि जाति-जुद्धित और मट, पारसी आदि कर्म-जुद्धित लोगों को श्रमण-मस्या में प्रवेश के अयोग्य माना। लेकिन यह जैन-विचारधारा का मौलिक मन्तव्य नहीं है, वरन् ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव है। इस व्यवस्था का विधान करनेवाले आचार्य ने इसके लिए मात्र लोकापवाद का ही तर्क दिया है, जो अपने आपमें कोई ठोस तर्क नहीं वरन् अन्य परम्परा के प्रभाव का ही चोटक है।^१ इसी प्रकार दक्षिण में विकसित जैनधर्म की दिगम्बर-परम्परा में जो शूद्र के अन्न-जल ग्रहण का निषेध तथा शूद्र की भुक्ति निषेध की अवधारणाएँ विकसित हुई हैं, वे भी ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव है।

बौद्ध आचार दर्शन में वर्ण-व्यवस्था—बौद्ध आचार-दर्शन भी वर्ण-धर्म का निषेध नहीं करता है, लेकिन वह उनको जन्मगत आधार पर स्थित नहीं मानता है। बौद्ध-धर्म के अनुसार भी वर्णव्यवस्था जन्मगत नहीं, कर्मगत है। कर्मों से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है, न कि उन कुलों में जन्म लेने मात्र से। बौद्धगमों में जातिवाद के सम्बन्ध के अनेक प्रसंग मिलते हैं, लेकिन उन सबका मूलानाम यही है कि जाति या वर्ण आभरण के आधार पर बनता है, न कि जन्म के आधार पर। मगवान् बुद्ध ने जहाँ जहाँ जातिवाद का निरसन किया है, वहाँ जाति से उनका तात्पर्य धारीर रचना सम्बन्धी विभेद से नहीं, जन्मगत जातिवाद से ही है। बुद्ध के अनुसार जन्म के आधार पर किसी प्रकार के जातिवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। सुतनिपाठ के निम्न प्रसंग में इस बात को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है।

वनिष्ठ एवं मरदात्र जातिवाद सम्बन्धी विवाद को लेकर बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होने हैं। वनिष्ठ बुद्ध से कहते हैं, "गौतम! जाति-भेद के विषय में हमारा विवाद है, मरदात्र कहता है कि ब्राह्मण जन्म से होता है, मैं तो कर्म से बनाता हूँ। हमलोग एक दूसरे को भवगत नहीं कर सकते हैं, इसलिए मम्बुद्ध (नाम से) बिक्रयात आपसे (इस विषय में) पूछने आये हैं।"

बुद्ध कहते हैं, "हे वनिष्ठ! मैं क्रमशः यथार्थ रूप से प्राणिपक्षों के जातिभेद को बताना शुरू करने विभिन्न-विभिन्न जातियाँ होती हैं। तृण, पशुओं को जानो। यद्यपि वे इस बात का हवा ही नहीं करने, फिर भी उनमें जातिमय लक्षण हैं जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। कीटों, पक्षियों और कीटियों तक में जातिमय लक्षण हैं जिससे उनमें भिन्न-भिन्न

जातियाँ होती हैं। छोटे-बड़े जानवरों को भी जानों, उनमें भी जाति भय लक्षण हैं जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। जिस प्रकार इन जातियों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण हैं, उस प्रकार मनुष्यों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण नहीं हैं।

“ब्राह्मण माता की कोख से उत्पन्न होने से ही मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। जो सम्पत्तिशाली है (बहु) धनी कहलाता है; जो अकिंचन है, तृष्णा रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। न कोई जन्म से ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण। ब्राह्मण कर्म से होता है और अब्राह्मण भी कर्म से। कृषक कर्म से होता है, शिल्पी कर्म से होता है, वणिक् कर्म से होता है, और सेवक भी कर्म से होता है, चोर भी कर्म से होता है, मोदी भी कर्म से होता है, याचक भी कर्म से होता है और राजा भी कर्म से होता है।”

इस प्रकार बुद्ध जन्मना जातिवाद के स्थान पर कर्मणा जातिवाद की धारणा को स्वीकार करते हैं, लेकिन कर्मणा जातिवाद की मान्यता में भी बुद्ध न तो यह स्वीकार करते हैं कि वैयक्तिक दृष्टि से जातिवाद कोई स्थायी तरव है, जिसमें जन्म लेने पर या उस व्यवसाय के चयन के बाद परिवर्तन नहीं कर सकता और न यह है कि व्यवसायों की दृष्टि से कोई उच्च और कोई नीच है। बुद्ध ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व को भी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि कोई भी मनुष्य आचरण (नैतिक विकास) के आधार पर श्रेष्ठ या निःकृष्ट होता है, न कि जाति या व्यवसाय के आधार पर। भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त धारणा का स्पष्टीकरण मज्झिमनिकाय के अस्तलावनमुत्त में मिलता है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने जाति-भेद सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं का निरसन कर चारों वर्गों के मोक्ष या नैतिक दृष्टि की धारणा की प्रतिस्थापना की है। उक्त मुत्त के कुछ महत्वपूर्ण अंश निम्न प्रकार हैं। हे गौतम! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही मृदु है, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरत पुत्र हैं, उनके मुख से उत्पन्न हैं, ब्रह्मनिमित्त हैं, ब्रह्मा के दायाद (उत्तराधिकारी) हैं। इस विषय में आप क्या कहते हैं? बुद्ध ने इसका प्रतिवाद करते हुए वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।

ब्रह्मण कहना शून्य है—आरवशायन ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती एवं गर्भिणी होती, प्रसव करती, दूध पिलाती देवी जाती हैं। योनि से उत्पन्न होते हुए भी वे ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है। इस प्रकार बुद्ध ब्राह्मण के ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने की धारणा का खण्डन करते हैं।

१. सुत्तनिपाट, ३५।३-३७, ५७-५९

२. मज्झिमनिकाय २।५।३-उद्घुट-जातिभेद और बुद्ध, पृ० ७

वर्ण-परिवर्तन सम्भव है—तो क्या मानने हो आश्वलायन ! तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और द्रुमरे भी सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होने हैं आर्य और दाग (पुलान) आर्य भी दाग हो सकता है और दाग भी आर्य हो सकता है ।^१

हाँ, मैंने सुना है कि यवन और कम्बोज में ऐसा होता है । द्रुम आगर पर बृद्ध वर्ण-परिवर्तन को सम्भव मानते हैं ।

सभी जाति समान है—तो क्या मानने हो आश्वलायन ! क्षत्रिय प्राणिहिंसक, बौ, दुर्गाचारी, झूठा, चूगलखोर, बटुभापी, बकवासी, लोभी, द्वेषी, झूठी चारणा वाला हो, तो शरीर छोड़ मरने के बाद नरक में उत्पन्न होगा या नहीं ? ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, प्राणि-हिंसक हो, तो नरक में उत्पन्न होंगे या नहीं ? 'हे गौतम क्षत्रिय भी प्राणि-हिंसक हो तो नरक में उत्पन्न होगा और ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र भी ।'^२

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसा से विरत हो, तो अच्छी गति प्राप्त कर स्वर्ग लोक में उत्पन्न हो सकता है और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण नहीं ।"

"नहीं, हे गौतम ! क्षत्रिय भी यदि प्राणिहिंसा से विरत हो, तो अच्छी गति प्राप्त कर स्वर्गलोक में उत्पन्न हो सकता है और ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र वर्ण भी ।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही वैर रहित, द्वेष रहित मैत्री विन भी भावना कर सकता है, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र नहीं ।"

इस प्रकार बुद्ध स्वयं आश्वलायन के प्रति उत्तरों से ही सभी जातियों को समानता का प्रतिपादन करते हैं और यह बताते हैं कि सभी नैतिक विकास कर सकते हैं ।

आधरण ही श्रेष्ठ है—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! यदि यहाँ दो माध्यम जुड़वें भाई हों, एक अध्ययन करने वाला, अनुपनीत, किन्तु दुःशील, पापी हो, दूसरा अध्ययन न करने वाला, अनुपनीत, किन्तु शीलवान्, पुण्यात्मा हो । इनमें ब्राह्मण धर्म, यज्ञ या पहनुर्दा में पहले किसको भोजन करावेंगे ।"

"हे गौतम ! वह माणवक जो अध्ययन न करने वाला, अनुपनीत, किन्तु शीलवान्, कल्याणधर्मी है, उसी को ब्राह्मण पहले भोजन करावेंगे । दुःशील, पापधर्मी को दान देने से क्या महाफल होगा ?"

"आश्वलायन ! पहले तू जाति पर पहुँचा, जाति से मत्रों पर पहुँचा, मत्रों से अब तू चातुर्वर्णी-गुटि पर आ गया, जिसका मैं उपदेश करता हूँ ।"

गीता तथा बर्क-व्यवस्था—भारतवर्ष में हिन्दू आधार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म

१. मज्झिमनिकाय २।५।३-उद्धृत जातिभेद और बुद्ध, पृ० ८

२. मज्झिमनिकाय, २।५।३

पर नहीं, वरन् कर्म पर ही आधारित है। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि चानुर्वर्ण्य व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है।^१ डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है, जाति (जन्म) पर नहीं। हम किम वर्ण के हैं, यह बात लिए या जन्म पर निर्भर नहीं है। स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित जाति नियत होती है।^२ युधिष्ठिर कहते हैं, "तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण (सदाचार) ही जाति का निर्धारक तत्त्व है।"^३ वनपर्व में कहा गया है, "ब्राह्मण न जन्म से होता है, न संस्कार से, न कुल से, और न वेद के अध्ययन से, ब्राह्मण केवल व्रत (आचरण) से होता है।"^४ बौद्धागम मुत्त-निपात के समान महर्षि अत्रि भी कहते हैं, जो ब्राह्मण धनुष-बाण और अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध में विजय पाता है वह क्षत्रिय कहलाता है। जो ब्राह्मण खेती बाड़ी और गोपालन करता है, जिसका व्यवसाय वाणिज्य है वह वैश्य कहलाता है। जो ब्राह्मण लाल, लवण, केसर, दूध, मक्खन, शहद और मांस बेचता है वह शूद्र कहलाता है। जो ब्राह्मण चोर, तस्कर, नट का कर्म करने वाला, मास काटने वाला और मांस-मत्स्य भोगी है वह निपाद कहलाता है। क्रियाहीन, मूर्ख सर्व धर्म विवर्जित, सब प्राणियों के प्रति निर्दय ब्राह्मण चाण्डाल कहलाता है।^५

डॉ० भिसन लाल आश्रय ने भी गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है—(अ) प्राचीन वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी, लचीली थी। वर्ण-परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था, क्योंकि आचरण के कारण वर्ण परिवर्तित हो जाता था। उपनिषदों में वर्णित मरुत्काम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है।^६ सत्य-काम जाबाल की सत्यवादिता के आधार पर ही उसे ब्राह्मण मान लिया गया था। (ब) मनस्मृति में भी वर्ण-परिवर्तन का विधान है, लिखा है कि "सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है।"^७ नैतिक दृष्टि से गीता के आचार-दर्शन के अनुसार भी कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण में श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि नैतिक विकास वर्ण पर निर्भर नहीं होता है। व्यक्ति स्वाभावानुकूल क्रिया भी भी वर्ण के नियत कर्मों का सम्पादन करते हुए नैतिक पूर्णता या सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।^८ वर्ण-व्यवस्था के द्वारा निहित कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छे या बुरे नहीं होने,^९ सहज कर्म सद्गुण होने पर स्वाग्य बही होते।^{१०}

१. गीता ४।१३, १।८।४१

२. मगवद्गीता (रा०), पृ० १६३

३. उद्भुत-मगवद्गीता (रा०), पृ० १६३ ४. महाभारत वनपर्व ३१३।१०८

५. अत्रिस्मृति, १।१०४-१०८

६. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास पृ० ६२५ ७. छान्दोग्य० ४।४

८. मनस्मृति, १०।६५

९. गीता, २।८।४५-४६

१०. वही, १।८।४०

११. वही, १।८।४८

क्योंकि वे नैतिक विचारों को अनङ्ग नहीं करते। बल्कि गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे जो गुण-कर्म की धारणा है, उसे किंचित् गहराई से समझना होगा। गुण और कर्म में भी, वर्ण-निर्धारण में गुण प्राथमिक है, कर्म का भयन तो स्वयं ही गुण पर निर्भर है। गीता का मुख्य उपदेश अपनी योग्यता या गुण के आधार पर कर्म करने का है। उनका कहना है कि योग्यता, स्वभाव अथवा गुण के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक जीवन प्रणाली का निर्धारण होना चाहिए।^१ समाज-व्यवस्था में अपने वर्तव्य-निर्वाह और आजीविका के उपार्जन के हेतु व्यक्ति को कौनसा व्यवसाय या कर्म चुनना चाहिए, यह बात उसकी योग्यता अथवा स्वभाव पर ही निर्भर है। यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक वर्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सकलता धूमिल होती है वहीं समाज-व्यवस्था भी अस्तव्यस्तता आती है।

गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है जिसका समर्थन डॉ० राधाकृष्णन् और पादचार्य विचारक श्री गैरहड हर्ड ने भी किया है। मानवीय स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासावृत्ति, साहस या नेतृत्व-वृत्ति, संग्रहात्मकता और साक्षित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है। सामान्यतः मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्राधान्य होता है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार प्रमुख कार्य हैं १. शिक्षण, २. रक्षण, ३. उपार्जन और ४. सेवा। अतः यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्राधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुने। जिसमें बुद्धि नैर्मल्य और जिज्ञासा-वृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे, जिसमें साहस और नेतृत्व वृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे, जिसमें विनियोग तथा संग्रह-वृत्ति हो वह उपार्जन का कार्य करे और जिसमें दैन्यवृत्ति या सेवावृत्ति हो वह सेवाकार्य करे। इस प्रकार जिज्ञासा, नेतृत्व, विनियोग और दैन्य की स्वभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा के सामाजिक कार्यों का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में वर्ण बने। इस स्वभाव के अनुसार व्यवसाय या वृत्ति में विभाजन में श्रेष्ठत्व और हीनत्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। गीता तो स्पष्ट रूप से कहती है कि जिज्ञासा, नेतृत्व, संग्रहवृत्ति और दैन्य आदि सभी वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक हैं अतः सभी दोषपूर्ण हैं।^२ गीता की दृष्टि में नैतिक श्रेष्ठत्व इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक वर्तव्यों का पालन कर रहा है, बल्कि इस बात पर निर्भर है कि वह उनका

पालन जिस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। गीता के अनुसार यदि एक दूध अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है तो वह अनैतिक और अनुशाल ब्राह्मण की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। गीता के आधार-दर्शन की भी यह विशिष्टता है कि यह भी जैन-दर्शन के समान साधना पथ का द्वार सभी के लिए खोल देता है। गीता यद्यपि वर्णधर्म धर्म को स्वीकृत करती है, लेकिन उसका वर्णधर्म धर्म तो सामाजिक मर्यादा के मन्दर्म में ही है। आध्यात्मिक विकास का सामाजिक मर्यादाओं के परिपालन से कोई भी वा सम्बन्ध नहीं है। गीता स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्त्रीय कर्मों का सम्पादन करने हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है।

श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि व्यक्ति चाहे अत्यन्त दुर्गन्धी गृहा हो अथवा स्त्री, दूध या वीर्य हो अथवा ब्राह्मण या राजर्षि हो, यदि वह सम्यक् रूप से मेरी उपामना करता है तो वह श्रेष्ठ गति को ही प्राप्त करता है।^१ इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार आध्यात्मिक विकास का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ है। जो भोग नैतिक या आध्यात्मिक विकास की आचरण के बाह्य तथ्यों या वैयक्तिक जीवन के पूर्वरूप या व्यक्ति के सामाजिक स्वस्थान से बाधने की कोशिश करते हैं, वे भ्रान्ति में हैं। गीता के आधार-दर्शन के अनुसार सामाजिक स्वस्थान के कर्तव्यों के परिपालन और नैतिक या आध्यात्मिक विकास के कर्तव्यों में कोई सघर्ष नहीं क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार गीता के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से है। लेकिन विशिष्ट सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता है, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास से है।

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आधार-दर्शन वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण रखते हैं। उनके दृष्टिकोण को संक्षेप में हम प्रकार बता जा सकता है—

१. वर्ण का आधार जन्म नहीं बल्कि गुण (स्वभाव) और कर्म है।
२. वर्ण अपरिवर्तनीय नहीं है। व्यक्ति अपने स्वभाव, आचरण और कर्म में परिवर्तन कर वर्ण परिवर्तित कर सकता है।
३. वर्ण का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों से है, लेकिन कोई भी सामाजिक कर्तव्य या व्यवसाय अपने आपमें न श्रेष्ठ है, न हीन है। व्यक्ति की श्रेष्ठता और हीनता उसके सामाजिक कर्तव्य पर नहीं, बल्कि उसकी नैतिक निष्ठा पर निर्भर है।
४. नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का अधिकार सभी वर्ण के लोगों को प्राप्त है।

आश्रम-धर्म

'आश्रम' शब्द श्रम से बना है। श्रम का अर्थ है प्रयास या प्रयत्न। जीवन के विभिन्न माध्यमों की उपलब्धि के लिए प्रत्येक आश्रम में एक विशेष प्रयत्न होता है। जिस प्रकार जीवन के चार माध्यम या मूल्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं, उसी प्रकार जीवन के इन चार माध्यमों की उपलब्धि के लिए इन चार आश्रमों का विधान है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्जन के लिए है और इस रूप में वह चारों ही आश्रमों की एक पूर्व तैयारी रूप है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता है जबकि धर्म पुरुषार्थ की साधना वानप्रस्थाश्रम में और मोक्ष पुरुषार्थ की साधना संन्यास आश्रम में की जाती है। यह स्मरणीय है कि वर्ण का मिथ्यान्त सामाजिक जीवन के लिए है, किन्तु आश्रम का मिथ्यान्त वैयक्तिक है। आपस मिथ्यान्त यह बताता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपने को किस प्रकार से चलना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे कैसी तैयारी करनी है। डॉ० वर्ण के अनुसार आश्रम-मिथ्यान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही इन भक्तियों की क्रियाविधि नहीं किया जा सका, परन्तु इसके लक्ष्य या उद्देश्य बड़े ही महान् और विविध थे। आश्रम-संस्था का विनाश कर दिया, यह कहना कठिन है। लगभग सभी भारतीय आचार-दर्शनों के ग्रन्थों में आश्रम-मिथ्यान्त सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध हो पाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के काल तक हमें तीन आश्रमों का विवेचन उपलब्ध होता है। उस युग तक संन्यास आश्रम की विधी खर्चा मुनाई देनी है। संन्यास और वानप्रस्था सामान्यतया एक ही माने गये थे, लेकिन परवर्ती साहित्य में चारों ही आश्रमों का विधान और उनके विधि-विशेष के निरूपण विस्तार से उपलब्ध है।

वैदिक परम्परा में चारों आश्रमों के माध्यम में तीन विधियों की खर्चा उपलब्ध होती है—१. मनुष्यत्व, २. विकल्प तथा ३. बाध। मनु ने इन चारों आश्रमों में मनुष्यत्व का मिथ्यान्त स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य की क्रमशः चारों ही आश्रमों का अनुसरण करना चाहिए। दूसरे मनु के अनुसार आश्रमों की इस अवस्था में रिक्त हो सकता है, अर्थात् मनुष्य इच्छानुसार इनमें से किसी एक आश्रम की ग्रहण कर सकता है। बाध के मिथ्यान्त के अनुसार गृहस्थाश्रम ही एक मात्र सामाजिक आश्रम और अन्य आश्रम अपेक्षाकृत उससे कम मूल्य वाले हैं। आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में रिक्त मिथ्यान्त यह मानता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास में से किसी भी आश्रम की ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ब्रह्मचर्य ने इन मनु का समर्थन किया है। उनके अनुसार जब भी वैदिक परम्परा

हो जाय सभी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना चाहिए^१ बाध मिद्धान्त को मानने वाले गौतम एवं बौधायन हैं। इस मिद्धान्त के अनुसार गृहस्थाधम ही सर्वोत्कृष्ट है। इस मत के कुछ विचारकों ने वानप्रस्थ एवं संन्यास को कलियुग में वर्ज्य मान लिया है।^२

वैदिक परम्परा में आश्रम-सिद्धान्त जीवन को चार भागों में विभाजित कर उनमें से प्रत्येक भाग में एक-एक आश्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करने का निर्देश देता है। प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य, दूसरे में गृहस्थ, तीसरे में वानप्रस्थ और चौथे में संन्यास-आश्रम ग्रहण करना चाहिए।

जैन-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त—श्रमण-परम्पराओं में आयु के आधार पर आश्रमों के विभाजन का सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता। यदि हम वैदिक-विचारधारा की दृष्टि से तुलनात्मक विचार करें तो यह पाने है कि श्रमण-परम्पराएँ आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में विश्वरूप के नियम को ही महत्त्व देती हैं। उनके अनुसार संन्यास-आश्रम ही सर्वोच्च है और व्यक्ति को जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाये सभी इसे ग्रहण कर लेना चाहिये। उनका मत जाबालोपनिषद् और शंकर के अधिक निबट है। श्रमण-परम्पराओं में ब्रह्मचर्याश्रम का भी विशेष विवेचन उपलब्ध नहीं होता। चूँकि श्रमण-परम्पराओं ने आध्यात्मिक जीवन पर ही अधिक जोर दिया अतः उनमें ब्रह्मचर्याश्रम के लौकिक शिक्षाकाल और गृहस्थाश्रम के लौकिक विधानों के सन्दर्भ में कोई विशेष दिशा-निर्देश उपलब्ध नहीं होता। लौकिक जीवन की शिक्षा ग्रहण करने के लिए सामान्यतया व्यावसायिक वाणिज्य शिक्षा के पास ही विद्यार्थी जाते थे, क्योंकि श्रमण-वर्ग सामान्यतया आध्यात्मिक शिक्षा ही प्रदान करता था। गृहस्थाश्रम के सन्दर्भ में आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से यद्यपि श्रमण-परम्पराओं में नियम उपलब्ध हैं, लेकिन विशाह एवं पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में सामान्यतया नियमों का अभाव ही है।

यद्यपि परवर्ती जैन-आचार्यों ने हिन्दू धर्म की इस आश्रम व्यवस्था को धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया और उसे जैन-परम्परा के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। आचार्य जिननेन ने आदिपुराण में यह स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चारों आश्रम जैनधर्म के अनुसार उत्तरोत्तर शुद्धि के परिचायक हैं।^३ जैन परम्परा में ये चारों आश्रम स्वीकृत रहे हैं। ब्रह्मचर्याश्रम को लौकिक जीवन की शिक्षा-काल के रूप में तथा गृहस्थाश्रम को गृहस्थ-धर्म के रूप में एवं वानप्रस्थ आश्रम को ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर उद्दिष्टविरत या श्रमणमूढ प्रतिमा की साधना के रूप में अथवा सामाजिक-चारित्र्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संन्यास-आश्रम तो श्रमण जीवन के रूप में स्वीकृत ही हो। इस प्रकार चारों ही आश्रम जैन-परम्परा में भी

१. जाबालोपनिषद् ३।१

२. देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २९७

३. आदिपुराण ३९।१५२

स्वीकृत है। बौद्ध-परम्परा और जैन-परम्परा दोनों में आश्रम-गिद्धान्त के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण ही स्वीकृत रहा है।

बौद्ध-परम्परा और आश्रम गिद्धान्त—बौद्ध-परम्परा भी जैन-परम्परा के दृष्टिकोण के समान ही आश्रम-गिद्धान्त के सम्बन्ध में विकल्प के गिद्धान्त को स्वीकार करती है। उसके अनुसार सत्याग-आश्रम (धम्म-जीवन) ही सर्वोच्च है और व्यक्ति जब भी वैराग्य भावना में युक्त हो जाये, उसे प्रवृत्ता प्रवृत्त कर लेनी चाहिए। बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्याश्रम शिष्य-काल के रूप में, गृहस्थाश्रम गृहस्थ-धर्म के रूप में, वानप्रस्थ आश्रम श्रामणेय के रूप में और सत्याग आश्रम धम्म-जीवन के रूप में स्वीकृत है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का आश्रम-विचार निम्न तालिका में स्पष्ट है—

वैदिक-परम्परा	जैन-परम्परा	बौद्ध-परम्परा
१. ब्रह्मचर्याश्रम	शिष्य-काल	शिष्य-काल
२. गृहस्थाश्रम	गृहस्थ-धर्म	गृहस्थ-धर्म
३. वानप्रस्थाश्रम	प्रतिमायुक्त गृहस्थ जीवन	श्रामणेय दोषा
	या	
	सामायिकचारित्र्य	
४. संन्यासाश्रम	उपोसथापनीयचारित्र्य	उपमण्डा

सामान्यतः आश्रम-गिद्धान्त का निर्देश यही है कि मनुष्य क्रमशः नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ तथा वासनामय जीवन के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ मोक्ष के सर्वोच्च साध्य को प्राप्त कर सके।

गीता में स्वधर्म

गीता अब यह कहती है कि स्वधर्म का पालन करने हुए मरना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि परधर्म भयावह है,^१ तो हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि इस स्वधर्म और परधर्म का अर्थ क्या है ? यदि नैतिकता की दृष्टि से स्वधर्म में होना ही कर्तव्य है तो हमें यह जान लेना होगा कि यह स्वधर्म क्या है ।

यदि गीता के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार स्वधर्म का अर्थ व्यक्ति के वर्णाश्रम के कर्तव्यों के परिपालन से है । गीता के दूसरे अध्याय में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वधर्म व्यक्ति का वर्ण-धर्म है । लोकमान्य विलक स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म ही करते हैं । वे लिखते हैं कि "स्वधर्म वह व्यवसाय है कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके स्वभाव के आधार पर नियत कर दिया गया है, स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है ।"^२ गीता के अठारहवें अध्याय में यह बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक वर्ण के स्वभाविक कर्तव्य क्या है ।^३ गीता यह मानती है कि व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसकी प्रकृति, गुण या स्वभाव के आधार पर होता है^४ और उस स्वभाव के अनुसार उसके लिए कुछ कर्तव्यों का निर्धारण कर दिया गया है, जिसका परिपालन करना उसका नैतिक कर्तव्य है । इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वभाव या गुण के आधार पर कर्तव्यों का निर्देश करती है । उन कर्तव्यों का परिपालन करना ही व्यक्ति का स्वधर्म है । गीता का यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति अपने स्वधर्म या अपने स्वभाव के आधार पर निश्चित स्वकर्तव्य का परिपालन करते हुए सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर लेता है । गीता कहती है कि व्यक्ति अपने स्वभाविक कर्तव्यों में लगकर उन स्वकर्मों के द्वारा ही उस परमतत्त्व की उपासना करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ।^५ इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वस्थान के आधार पर कर्तव्य करने का निर्देश करती है । समाज में व्यक्ति के स्वस्थान का निर्धारण उसके अपने स्वभाव (गुण, कर्म) के आधार पर ही होता है । वैयक्तिक स्वभावों का वर्गीकरण और तदनुसार कर्तव्यों का आरोपण गीता में किस प्रकार किया गया है इसकी व्यवस्था वर्ण-धर्म के प्रसंग में की गई है ।

१. गीता, ३।३५

२. गीता रहस्य, पृ० ६७३

३. गीता १।४।१-४८

४. वही, ४।१३

५. वही, १।४५

जैनधर्म में स्वस्थान

जैन-दर्शन में भी स्वस्थान के अनुसार कर्तव्य करने का निर्देश है। प्रतिक्रमणमूल में प्रतिक्रमण की व्याख्या करने हुए बतलाया गया है कि यदि साधक प्रमादवश स्वस्थान के कर्तव्यों में च्युत होकर परस्थान के कर्तव्यों को अपना लेता है तो पुनः आलोचनापूर्वक परस्थान के आचरण को छोड़कर स्वस्थान के कर्तव्यों पर स्थित हो जाना ही प्रतिक्रमण (पुनः स्वस्थान या स्वधर्म की ओर लौट आना) है।^१ इस प्रकार जैन नैतिकता का स्पष्ट निर्देश है कि साधक को स्वस्थान के कर्तव्यों का ही आचरण करना चाहिए। बृहत्कल्प भाष्यपीठिका में कहा गया है कि स्वस्थान में स्वस्थान के कर्तव्यों का आचरण ही श्रेयस्कर और सफल है। इसके विपरीत स्वस्थान में परस्थान के कर्तव्यों का आचरण अधोऽस्कर एवं निष्फल है।^२ जैन वाचार-दर्शन यही कहता है कि साधक को अपने बलाबल का निश्चय कर स्वस्थान चुनना चाहिए और स्वस्थान के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। जैन साधना का आदर्श यही है कि साधक प्रथम अपने देश, काल, स्वभाव और शक्ति के आधार पर स्वस्थान का निश्चय करे अर्थात् गृहस्थ धर्म या साधु धर्म या साधना के अन्य स्तरों में वह किसका परिपालन कर सकता है। स्वस्थान का निश्चय करने के बाद ही उम स्थान के निर्दिष्ट कर्तव्यों के अनुसार नैतिक आचरण करे। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि साधक अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा एवं आरोप को अच्छी प्रकार देखभाल कर तथा देश और काल का सम्यक् परिज्ञान कर तदनुकूल कर्तव्य पथ में अपने को नियोजित करे।^३ बृहत्कल्पभाष्य पीठिका के उपरोक्त श्लोक के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए उपाध्याय अमरमुनिजी कहते हैं, प्रत्येक जीवन-क्षेत्र में स्वस्थान का बड़ा महत्त्व है, स्वस्थान में जो गुह्य है वह परस्थान में वहाँ। जन में मगर जितना बलशाली है, क्या उतना स्थल में भी है? नहीं।^४ यद्यपि स्वस्थान के कर्तव्यों के परिपालन का निदान्त जैन और गीता के आचार-दर्शन में समान रूप से स्वीकार हुआ है, लेकिन दोनों में थोड़ा अन्तर भी है—गीता और जैन-दर्शन इस बात में तो एकमत हैं कि व्यक्ति के स्वस्थान का निश्चय उसकी प्रकृति अर्थात् गुण और क्षमता के आधार पर करना चाहिए, लेकिन गीता इसके आधार पर व्यक्ति के सामाजिक स्थान का निर्धारण कर उस सामाजिक स्थान के कर्तव्यों के परिपालन का निर्देश करती है, जबकि जैन-धर्म यह बताता है व्यक्ति को साधना के उच्चतम से निम्न-तर विभिन्न स्तरों में किस स्थान पर रहकर उम स्थान के लिए निश्चित आचरण के नियमों का परिपालन करना चाहिए। स्वस्थान और परस्थान का विचार यह कहता है कि मानस के विभिन्न स्तरों में से किसी स्थान पर रहकर उम स्थान के निश्चित आचरण के नियमों का परिपालन करना चाहिए।

१. उद्घुष्ट जैनधर्म का प्राण, पृ० १४२

२. दशवैकालिक ८।३५

३. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२३

४. श्रीअमर भारती भाष्य १९६५, पृ० ३०

सुलना—जैन विचारण, में स्वस्थान और परस्थान का विचार साधना के स्वरों की दृष्टि में किया जाता है, जबकि गीता में स्वस्थान और परस्थान या स्वधर्म और परधर्म का विचार सामाजिक कर्तव्यों की दृष्टि में किया गया है। जैन-साधना की दृष्टि प्रमुख रूप से वैयक्तिक है, जबकि गीता की दृष्टि प्रमुख रूप से सामाजिक, यद्यपि दोनों विचारधाराएँ दूसरे पक्षों की नितान्त अवहेलना भी नहीं करती। इस सम्बन्ध में जैन-विचारणा यह कहती है कि सामान्य गृहस्थ साधक, विशिष्ट गृहस्थ साधक-सामान्य श्रमण अथवा जिनकन्यी श्रमण के अथवा साधना-काल की सामान्य दशा के अथवा विशेष परिस्थितियों के उत्पन्न होने की दशा के आचरण के आदर्श क्या है ? या आचरण के नियम क्या है और गीता समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के कर्तव्य का निर्देश करती है। गीता आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार तो करती है, फिर भी प्रत्येक आश्रम के विशेष कर्तव्य क्या है, इसका समुचित विवेचन गीता में उपलब्ध नहीं होता। जैन परम्परा में आश्रम धर्म के कर्तव्यों का ही विशेष विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें वर्ण-व्यवस्था को गुण, कर्म के आधार पर स्वीकार किया तो गया है, फिर भी ब्राह्मण के विशेष कर्तव्यों के निर्देश के अतिरिक्त अन्य वर्णों के कर्तव्यों का कोई विवेचन विस्तार में उपलब्ध नहीं होता। यस्तु गीता की दृष्टि प्रमुखतः प्रवृत्ति प्रधान होने से उसमें वर्ण-व्यवस्था पर जोर दिया गया है जबकि जैन एवं बौद्ध दृष्टि प्रमुखतः निवृत्तिपरक होने से उनमें निवृत्त्यात्मक ढंग पर आश्रम धर्मों की विवेचना ही हुई है। जन्मना वर्ण-व्यवस्था का तो जैनो और बौद्धों ने विरोध किया ही था, अतः अपनी निवृत्तिपरक दृष्टि के अनुकूल मात्र ब्राह्मण-वर्ण के कर्तव्यों का निर्देश करके सतोष माना।

यद्यपि गीता और जैन आचार-दर्शन दोनों यही कहते हैं कि साधक को अपनी अवस्था या स्वभाव को ध्यान में रखते हुए, उसी कर्तव्य-पथ का चयन करना चाहिए, जिसका परिमालन करने की क्षमता उसमें है। स्व-क्षमता या स्थिति के आधार पर साधना के निम्न स्तर का चयन भी अधिक लाभकारी है अपेक्षाकृत उस उच्च स्तरीय चयन के, जो स्व-स्वभाव, क्षमता और स्थिति का बिना विचार किये किया जाता है। समग्र जैन-आगम-साहित्य में महावीर के जीवन का एक भी ऐसा प्रसंग देखने को नहीं मिलता जब उन्होंने साधक की शक्ति एवं स्वेच्छा के विपरीत उसे साधना के उच्चतम स्तरों में प्रविष्ट होने के लिए कहा हो। महावीर प्रत्येक साधक से चाहे वह मावना के उच्चस्तरों (श्रमण धर्म की साधना) में प्रविष्ट होने का प्रस्ताव लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ हो या साधना के निम्न स्तर (गृहस्थ धर्म की साधना) में प्रविष्ट होने का प्रस्ताव लेकर उपस्थित हुआ हो, यही कहते हैं—हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, परन्तु प्रमाद मत करो।^१ वे साधना में दृढ़ बात पर

नहीं देने है कि गुप्त साधना में विष्णु के किंग विन्दु पर स्थित हो रहे हो, साधना के राज मार्ग पर स्थित स्थान पर न रहे हो। वरन् इस बात पर जोर देने है कि साधना के क्षेत्र में त्रिग स्थान पर गुप्त न रहे हो उग स्थान के कर्मियों के परिणाम में स्थित मन्त्र निष्ठावान् या जागरूक हो। शैव विद्यासागर यन् साधना है कि भक्ति का क्षेत्र में यह बात प्राथमिक महत्त्व की नहीं है कि साधक किसी कठोर साधना कर रहा है, वरन् प्राथमिक महत्त्व इस बात का है कि वह जो कुछ कर रहा है उसमें कितनी गम्भीरता और निष्ठा है। यदि एक साधु जो साधना की उच्चतम भूमिका में स्थित होने हुए भी अपने कर्मों के प्रति मन्त्र नहीं है, निष्ठावान् नहीं है, ईमानदार नहीं है, तो वह उग गृहस्थ साधक की अपेक्षा, जो साधना की निम्न भूमिका में स्थित होने हुए भी अपने स्थान के कर्मों के प्रति निष्ठावान् है, जागरूक है और ईमानदार है, नीचा ही है। भक्ति ध्येयता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि भौतिक गोपान में कौन वहाँ पर रहता है, वरन् इस बात पर निर्भर करती है कि वह स्वस्था के कर्मों के प्रति कितना निष्ठावान् है। आचारसंग्रह में स्पष्ट कहा है कि साधक जिस भावना या श्रद्धा में साधना वष पर अभिनिरुद्ध करे उसका प्रामाणिकतापूर्वक पालन करे।^१

गीता इसी बात को अत्यन्त सशेष में इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि स्वभावता एवं स्व-स्वभाव के प्रतिकूल ऐसे सुभाचरित* प्रतीत होनेवाले उग परधर्म से, स्व-स्वभाव के अनुकूल निम्नस्वरीय होने हुए भी स्वधर्म ध्येय है। परधर्म अर्थात् अपने स्वस्वभाव एवं क्षमताओं के प्रतिकूल आचरण सर्वत्र ही भयप्रद होता है और इसलिए स्वधर्म का परिपालन करते हुए मृत्यु का वरण कर लेना भी कल्याणकारी है।^२

स्वधर्म का आध्यात्मिक अर्थ—गीताकार निष्कर्ष रूप में यह कहता है कि हे पार्थ, तू सब धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।^३

१. आचारसंग्रह, १।१।१।३।२०

२. गीता, ३।३५

३. बही, १८।१६

४. द्विपक्षी—प्रस्तुत श्लोक में 'परधर्मस्त्वनुष्ठितान्' का सामान्य अर्थ सुममाचरित परधर्म से लगाया जाता है, लेकिन परधर्म वस्तुतः सुअनुष्ठित या सुममाचरित होता ही नहीं है, क्योंकि जो स्वप्रकृति से निकलता है वही सुमाचरित हो सकता है। यहाँ सुमाचरित कहने का तात्पर्य यही है कि जो बाहर से देखने पर अच्छी तरह आचरित होता दिखाई देता है, यद्यपि मूलतः वैसा नहीं है। हृदय में वास्तवों के प्रबल आवेग के होने पर भी बोंगी साधु साधु-जीवन की बाह्य क्रियाओं का ठीक रूप से आचरण करता है, कभी-कभी तो वह अच्छे साधु की अपेक्षा भी दिखावे के रूप में उनका अधिक अच्छे ढंग से पालन करता है, लेकिन उसका यह आचरण मात्र बाह्य दिखावा होता है उसमें सार नहीं होता। उसी प्रकार सुममाचरित पर-धर्म में सुमाचरण मात्र दिखावा या बोंग होता है। सुमाचरित या सुअनुष्ठित का यही भाव यही अर्थ है।

तो हमारे सामने एक समस्या पुनः उपस्थित होती है कि सब धर्मों के परिपालन की धारणा का स्वधर्म के परिपालन की धारणा से कैसे मेल बैठकाया जाय ? यदि विचार पूर्वक देखें तो यही गीताकार की दृष्टि में त्रिन समस्त धर्मों का परिपालन स्पष्ट है, वे विधि-नियेध रूप सामाजिक कर्तव्य तथा बाह्यचरण रूप धर्मापन के नियम हैं। वस्तुतः कर्तव्य के क्षेत्र में कभी-कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि जहाँ धर्म-धर्म का निर्णय या स्वधर्म और परधर्म का निर्णय करने में मनुष्य अपने को भगमर्ष पाता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि व्यक्ति अपने स्वधर्म या परधर्म का निश्चय नहीं कर पाता तो वह क्या करे ? गीताकार स्पष्ट रूप से कहता है कि ऐसी अनिश्चय की अवस्था में धर्म-अधर्म के विचार से ऊपर उठकर अपने-आपको भगवान् के सम्मुख गया और निरस्त रूप में प्रस्तुत कर देना चाहिए और उसकी इच्छा का यत्न बनकर या मात्र निमित्त बनकर आचरण करना चाहिए। यही गीता स्पष्ट ही आत्म-नामर्पण पर जोर देती है। लेकिन जैन-दृष्टि जो किसी ऐसे कृपा करने वाले सत्कार के नियन्त्रिता ईश्वर पर विश्वास नहीं करती, इन कर्तव्यावर्तव्य या स्वधर्म और परधर्म के अनिश्चय की अवस्था में व्यक्ति को यही सुझाव देती है कि उसे राग-द्वेष के भावों से दूर होकर उपस्थित कर्तव्य का आचरण करना चाहिए। वस्तुतः इन श्लोक के माध्यम से गीताकार शब्द स्वधर्म के ग्रहण की बात कहता है, परमात्मा के प्रति सच्चा समर्पण परधर्म का त्याग और स्वधर्म का ग्रहण ही है, क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप राग द्वेष से रहित अवस्था है और उसे ग्रहण करना शब्द आध्यात्मिक स्वधर्म का ग्रहण है।

वस्तुतः स्वधर्म और परधर्म का यह व्यावहारिक कर्तव्य-यथ नैतिक साधना की इतिमी नहीं है, व्यक्ति को इससे ऊपर उठना होता है। विधि-नियेध का कर्तव्य मार्ग नैतिक साधना का मात्र बाह्य शरीर है, उसकी आत्मा नहीं। विधि-नियेध के इन व्यवहार-मार्ग में कर्तव्यों का संपर्क सम्भाव्य है जो व्यक्ति को कर्तव्य-विमूढता में डाल देता है। अतः गीताकार ने सम्पूर्ण विवेचन के पदचान् यही सिद्धा दी कि मनुष्य अहं के रिविडकरण के द्वारा अपने को भगवान् के सम्मुख समर्पित कर दे और इस प्रकार सभी धर्मापनों के व्यावहार-मार्ग से ऊपर उठकर उस क्षेत्र में अवस्थित हो जाये, जहाँ कर्तव्यों के मध्य संपर्क की समस्या ही नहीं रहे। जैन-विचारकों ने भी कर्तव्यों के संपर्क की इस समस्या से एव कर्तव्य के निश्चय कर पाने में उत्पन्न कठिनाई से बचने के लिए स्वधर्म और परधर्म की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिसमें व्यक्ति का कर्तव्य है स्वरूप में अवस्थित होना। उनके अनुसार प्रत्येक तत्त्व के अपने-अपने स्वाभाविक गुण-धर्म हैं। स्वाभाविक गुण-धर्म से तात्पर्य उन गुण-धर्मों से है जो बिना किसी दूसरे तत्त्व की अपेक्षा के ही उस तत्त्व में रहते हैं अर्थात् परतत्त्व से निरपेक्ष रूप से स्वाभाविक गुण-धर्म स्वधर्म हैं। इसके विपरीत वे गुण-धर्म, जो दूसरे

रहते हैं या उनके कारण उगते हैं। वैभाषिक गुण पर्यं है। इति-यत्पर्यं है। एकीभावे से करने हुए-प्राचीनों से परिचय करवा हो स्वभाव है स्वयं है। ईश्वर के अनुसार मनु का निज स्वभाव ही उगता स्वयं है। वैभाषिक गुण पर्यं स्वयं नहीं है, क्योंकि वैभाषिक गुणपर्यं पर्यं ही है पर के कारण उगते हैं। अतः इति-यत्पर्यं नहीं है। आगति या राग जीव का स्वयं पर्यं है। पराति आगति या राग निज से भिन्न परमाणु की भी लोका जाता है। बिना निजो निज के आगति मत्त आगति वैभाषिक स्वयं या पर्यं है। क्योंकि आगति ही है। जीवाचार दर्शन के अनुसार विपुल जीव्य तत्त्व के निज राग, द्वेष, मोह, ज्ञान, भोग्य आदि तत्त्व हैं, जबकि ज्ञान, दर्शन, वाग्मि आदि स्वयं है। जीवपर्यं के अनुसार गीता के 'मत्तं निजं ध्येयं परमं यथावत्' का मत्तं अर्थ यह है कि ज्ञान-दर्शन का अर्थ स्वयं में स्थित रहकर मत्तं भी स्वयं है। स्वभाविक स्वयं का परिचय एव प्रद है, क्योंकि यह उगते पर्यं का या स्वयं का मार्ग है।

आचार्य बुद्धबुद्ध स्वयं और पर्यं को विवेचना अत्यन्त मायिक रूप में प्रस्तुत करने हुए बहते हैं—'जो जीव स्वयं गुण पर्यं का सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रमण कर रहा है, उसे ही परमार्थ-दृष्टि में स्व-मत्त या स्वयं में स्थित जानो और जो जीव पुत्रगल या कर्म-प्रदेशों में स्थित है अर्थात् पर-मत्तों का प्रभावित होकर उन पर राग-द्वेष आदि भाव करके, उन पर तत्त्वा के आश्रय से स्व-स्वयं को विचारो रूप रहा है, उसे पर-मत्त या परम में स्थित जानो। राग, द्वेष और मोह का परिणाम यह के कारण ही होता है, अतः यह पर-स्वभाव या पर-पर्यं ही है। आचार्य आगे बहते हैं कि स्वस्वरूप या स्वयं से बहुत होकर पर-पर्यं, पर-स्वभाव या पर-मत्त में स्थित हुआ बन्धन है और यह दूसरे के साथ बन्धन में होने की अवस्था विगवारिणी अवस्था निज की पात्र है। आत्मा तो स्वभाव या स्वयं में स्थित होकर अपने एतत्त्व की अवस्था ही जीवा पाता है।'

गीता का दृष्टिकोण—यद्यपि गीता के श्लोकों में स्वयं और पर्यं के आध्यात्मिक अर्थ की इस विवेचना का अभाव है, लेकिन आचार्य सकर ने गीता भाष्य में आचार्य बुद्धबुद्ध से मिलती हुई स्वयं और पर्यं की व्याख्या प्रस्तुत की है। सावर बहते हैं कि जब मनुष्य की प्रकृति राग-द्वेष का अनुसरण कर उसे अपने काम में नियोजित करती है, तब स्वयं का परिचय और पर्यं का अनुष्ठान होता है अर्थात् आचार्य सकर के अनुसार भी राग-द्वेष के वशीभूत होना ही पर्यं है और राग-द्वेष स विमुक्त होता ही स्वयं है।'

ब्रेडले का स्वस्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त तथा स्वधर्म—भारतीय परम्परा के स्वधर्म के सिद्धान्त के समान ही पाश्चात्य परम्परा में ब्रेडले ने 'स्वस्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धान्त स्थापित किया। ब्रेडले का कहना है कि हम उस समय अपने को प्राप्त करते हैं जब हम अपने स्थान और कर्तव्यों को एक समाजरूपी शरीर के अंग के रूप में प्राप्त कर लेते हैं।^१ ब्रेडले ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एथिकल स्टडीज में इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है।^२ यही तो हम केवल उसके सिद्धान्त का सारांश ही प्रस्तुत कर रहे हैं। ब्रेडले के उपर्युक्त कथन का अर्थ यह है कि हमें अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को परख कर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में अपने कर्तव्य का निर्धारण कर लेना चाहिए। वस्तुतः हमारा कर्तव्य वही हो सकता है जो हमारी प्रकृति हो। अपनी प्रकृति के अनुरूप सामाजिक जीवन में अपने स्थान का निर्धारण एवं उसके कर्तव्यों का चयन और उनका पालन ही ब्रेडले के दृष्टिकोण का आशय है, यद्यपि यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वस्थान के अनुरूप कर्तव्य-पालन नैतिकता की अन्तिम परिणति नहीं है। हमें उसमें भी ऊपर उठना होगा।



४ सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

वैयक्तिक एवं सामाजिक समता के विचलन के दो कारण हैं—एक मोह और दूसरा शोभ । मोह (आगन्ति) विचलन का एक आन्तरिक कारण है जो राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ (तृष्णा) आदि के रूप में प्रकट होता है । हिंसा, शोषण, तिरस्कार व अन्याय—ये शोभ के कारण हैं जो अन्तर मानव को पीड़ित करने हैं । यद्यपि मोह और शोभ ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो एक-दूसरे से अलग और अप्रभावित हों, तथापि मोह के कारण आन्तरिक और उग्रका प्रकटन बाह्य है, जबकि शोभ के कारण बाह्य है और उग्रका प्रकटन आन्तरिक है । मोह वैयक्तिक बुराई है, जो समाज-जीवन को दूषित करती है, जबकि 'शोभ' सामाजिक बुराई है, जो वैयक्तिक जीवन को दूषित करती है । मोह का केन्द्रीय तत्त्व आगन्ति (राग या तृष्णा) है, जबकि शोभ का केन्द्रीय तत्त्व हिंसा है ।

इस प्रकार जैन-आचार में सम्पूर्ण चारित्र्य की दृष्टि से अहिंसा और अनागन्ति ये दो केन्द्रीय सिद्धान्त हैं । एक बाह्य जगत् या सामाजिक जीवन में समन्वय का स्थापन करता है तो दूसरा धैर्य या आन्तरिक समन्वय को बनाये रखता है । वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा और अनागन्ति मिलकर अनाग्रह या अनेकान्तवाद को जन्म देने हैं । आग्रह वैचारिक आगन्ति है और एकान्त वैचारिक हिंसा । अनागन्ति का सिद्धान्त ही अहिंसा से समन्वित हो सामाजिक जीवन में अपरिग्रह का आदेश प्रस्तुत करता है । सग्रह वैयक्तिक जीवन के सम्दर्भ में आगन्ति और सामाजिक जीवन के सम्दर्भ में हिंसा है । इस प्रकार जैन-दर्शन सामाजिक नैतिकता के तीन केन्द्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है—
१. अहिंसा, २. अनाग्रह (वैचारिक गहिष्णुता) और ३. अपरिग्रह (अग्रग्रह) ।

अब एक दूसरी दृष्टि से विचार करें : मनुष्य के पात मन, वाणी और शरीर ऐसे तीन साधन हैं, जिनके माध्यम से वह सदाचरण या दुराचरण में प्रवृत्त होता है । शरीर का दुराचरण हिंसा और सदाचरण अहिंसा कहा जाता है । वाणी का दुराचरण आग्रह (वैचारिक अगहिष्णुता) और सदाचरण अनाग्रह (वैचारिक गहिष्णुता) है । जबकि मन का दुराचरण आगन्ति (ममत्त्व) और सदाचरण अनागन्ति (अपरिग्रह) है । जैसे यदि अहिंसा को ही केन्द्रीय तत्त्व माना जाय तो अनेकान्त को वैचारिक अहिंसा और अनागन्ति को मानसिक अहिंसा (स्वदया) कहा जा सकता है । साथ ही अनागन्ति में

प्रतिरक्षित होने वाला अपरिग्रह का मिश्रण सामाजिक एवं आर्थिक अहिंसा कहा जा सकता है।

यदि शांति के तीन अंग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य के व्यावहारिक पक्षों की दृष्टि से विचार किया जाए तो अनामसिद्धि, सम्यग्दर्शन का, अनेकान्त (अनाग्रह) सम्यग्ज्ञान का और अहिंसा सम्यक् चारित्र्य का प्रतिनिधित्व करने हैं। दर्शन का सम्बन्ध बुद्धि से है, ज्ञान का सम्बन्ध विचार से है और चारित्र्य का कर्म से है। अतः बुद्धि में अनामसिद्धि, विचार में अनाग्रह और आचरण में अहिंसा यही जैन आचार दर्शन के तत्त्वत्व का व्यावहारिक स्वरूप है जिन्हें हम सामाजिक के सम्दर्भ में प्रयोग, अपरिग्रह, अनेकान्त (अनाग्रह) और अहिंसा के नाम से जानते हैं। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह जब सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं, तब वे सम्यक् आचरण के ही अंग कहे जाते हैं। दूसरे, जब आचरण से हमारा सार्वभौमिक, वास्तविक और मानविक दोनों प्रकार के कर्मों से हो, तो अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का समावेश सम्यक् आचरण में हो जाता है। सम्यक् आचरण एक प्रकार से जीवन मुक्ति का प्रयोग है, अतः मानविक कर्मों की मुक्ति के लिए अनामसिद्धि (अपरिग्रह), वास्तविक कर्मों की मुक्ति के लिए अनेकान्त (अनाग्रह) और आर्थिक कर्मों की मुक्ति के लिए अहिंसा के पालन का निर्देश दिया गया है। इस प्रकार जैन जीवन-दर्शन का सार इन्हीं तीन मिश्रणों में निहित है। जैनधर्म की परिभाषा करने वाला यह प्लोक सर्वाधिक प्रचलित ही है—

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पशपातो न विद्यते।

नास्त्यन्यं पीडनं किञ्चित् जैनधर्मः स उच्यते ॥

सच्चा जैन यही है जो पशपात (गमत्व) में रहित है, अनाग्रही और अहिंसक है। यहाँ हमें इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि जिस प्रकार आत्मा या चेतना के तीन पक्ष ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में एक दूसरे में अलग-अलग नहीं रहते हैं, उसी प्रकार अहिंसा, अनाग्रह (अनेकान्त) और अपरिग्रह भी सामाजिक समता की स्थापना के प्रयास के रूप में एक दूसरे से अलग नहीं रहते। जैसे-जैसे वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं, जैसे-जैसे एक दूसरे के साथ समन्वित होते जाते हैं।

अहिंसा

जैनधर्म में अहिंसा का स्थान

अहिंसा जैन आचार-दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा गया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है कि भयभीतों को जैसे धरण, पशियों को जैसे गमन, वृक्षों

जल, भूगर्भों को जैरे भोजन, समुद्र के समान जैरे जलान, रोगियों को जैरे औषध और वन में जैरे मार्गशुद्ध का मार्ग आहारभूत है। जैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आहारभूत है। अहिंसा एक एक अणु सभी प्राणियों का बचाव करने वाली है।^१ यह जलान धर्म है, जिसका उपदेश सीधे-सीधे करने है। आचार्यगुरु में कहा गया है—भूत, पक्षि और वर्तमान के सभी अहंत्वा दूर उपदेश करने है कि किसी भी प्राण, पुनः प्रीति और मरुत को किसी प्रकार का परित्याग, उपेक्षा या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हानि करना चाहिए। यही बौद्ध, जैन और शारवण धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हत्तों ने इगका प्रतिपादन किया है।^२ मूलश्रुतानुसार के अनुसार जानो होने का मार्ग यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समस्त धर्म का मूल है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।^३ दशरूपानुसंग में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के मार्गस्थ होने ने महावीर ने इगको प्रथम स्थान दिया है।^४ अहिंसा के समान दुःख का धर्म नहीं है।^५

आचार्य अमृतचन्द्रगूरि के अनुसार तो जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादा इसके अन्तर्गत हैं; आचार-नियमों के दूगरे रूप जैने अगम्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जनसाधारण को सुलभ रूप से समझाने के लिये भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं, समुत्त-वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।^६ जैन-दर्शन में अहिंसा वह आधार वाक्य है जिसमें आचार के सभी नियम निर्गमित होने हैं। भगवती आराधना में कहा गया है—अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।^७

बौद्धधर्म में अहिंसा का स्थान—बौद्ध-दर्शन के दस धीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतुःशतक में कहा है कि तथागत ने संश्लेष में केवल 'अहिंसा' इन अशरों में धर्म का वर्णन किया है।^८ बुद्ध ने हिंसा को अनार्य धर्म कहा है। वे कहते हैं, जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।^९

बुद्ध हिंसा एवं युद्ध के नीतिशास्त्र के घोर विरोधी हैं। धम्मपद में कहा गया है—विजय से बँर उत्पन्न होता है। पराजित दुःखी होता है। जो जय-पराजय को छोड़

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।२१।२२

२. मूलश्रुतांग, १।४।१०

३. भगवतपरिभाषा, ९१

४. भगवती-आराधना, ७९०

५. धम्मपद, २७०

६. आचारसंग्रह, १।४।१।२३

७. दशरूपकालिक, ६।९

८. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ४२

९. चतुःशतक, २९८

घुका है, उसे ही सुख है, उसे ही शान्ति है ।^१

अंगुत्तरनिकाय में यह बात और अधिक स्पष्ट कर दी गयी है। हिंसक व्यक्ति जगत् में नारतीय जीवन का और अहिंसक व्यक्ति स्वर्गीय जीवन का भुजन करता है। वे कहते हैं—“भिषुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो। कौन से तीन ? स्वयं प्राणी हिंसा करता है, दूसरे प्राणी को हिंसा की ओर घसीटता है और प्राणी-हिंसा का समर्थन करता है। भिषुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा हो होता है, जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो।”

“भिषुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है, जैसे लाकर स्वर्ग में डाल दिया गया हो। कौन से तीन ?”

“स्वयं प्राणी हिंसा से विरत रहता है, दूसरे को प्राणी-हिंसा की ओर नहीं घसीटता और प्राणी-हिंसा का समर्थन नहीं करता।”^२ बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में कल्याण और मैत्री की भावना का जो चरम उत्कर्ष देखा जाता है, उसकी पृष्ठभूमि में यह अहिंसा का निदान्त रहा है।

हिन्दूधर्म में अहिंसा का स्थान—गीता में अहिंसा का महत्त्व स्वीकृत करते हुए उसे भगवान् का ही भाव कहा गया है। उसे देवी सम्पदा एवं सात्विक तप भी कहा है।^३ महाभारत में तो जैन विचारणा के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत मान लिया गया है।^४ यही नहीं, उनमें धर्म के उपदेश का उद्देश्य भी प्राणियों को हिंसा से विरत करना है। अहिंसा ही धर्म का सार है। महाभारतकार का कथन है कि—‘प्राणियों को हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उद्देश्य दिया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है।’^५

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में बार-बार अर्जुन को युद्ध करने के लिए कहा गया, उसका युद्ध से उपरत होने का कार्य निन्दनीय तथा कायरतापूर्ण माना गया है, फिर गीता को अहिंसा की समर्थक कैसे माना जाए ? इस सम्बन्ध में गीता के व्याख्याकारों की दृष्टिकोणों की समझ लेना आवश्यक है। आद्य टीकाकार आचार्य शंकर ‘युध्यस्व (युद्ध कर)’ शब्द को टीका में लिखते हैं—‘यहाँ (उपर्युक्त कथन से) युद्ध की वर्तव्यता का विधान नहीं है।’ इतना ही नहीं, आचार्य ‘आत्मोपम्येन सर्वत्र’ के आधार पर गीता में अहिंसा के निदान्त की पुष्टि करते हैं—‘जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सभी प्राणियों को सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय या प्रतिकूल

१. धम्मपद, २०१

२. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५३

३. गीता १०।५-७, १६।२, १७।१५

४. महाभारत, शान्ति पर्व, २४५।१९

५. वही, १०९।१२

६. गीता (शंकर भाष्य), २।१८

है, जैसे ही सब प्राणियों को सर्वत्र प्रतिबुद्ध है, इस प्रकार को सब प्राणियों में जो समान ही गुण और गुणरूप गुण भाव में अनुभूत और प्रतिबुद्ध देखा है किन्तो के भी प्रतिबुद्ध आचरण नहीं करता बल्कि अतिरिक्त है। इस प्रकार का अतिरिक्त गुण पूर्ण ज्ञान में स्थित है, यह सब योगियों में परम उत्कृष्ट माना जाता है।^१

महात्मा गांधी भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादन ग्रहण मानते हैं। उनका कथन है—'गीता की मूल्य शिक्षा दिया नहीं बढ़ता है। हिंसा बिना क्रोध, आगति एवं गुणा के नहीं होती और गीता हमें मर्यादा, शत्रु और मर्यादा गुणों के रूप में गुणा, श्रेष्ठ आदि अवस्थाओं में ऊपर उठने को कहती है। (हिंसा वह हिंसा की समर्पण की हो सकती है)।^२ डा० राधाकृष्णन् भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादन ग्रहण मानते हैं। वे लिखते हैं—'कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का परामर्श देता है, तो इसका प्रर्थण नहीं कि वह युद्ध की मैदानी का समर्पण कर रहा है। युद्ध तो एक ऐसा अवसर ही है; जिसका उपयोग तुम उस भावना की ओर लगे रहने के लिए करना है, जिस भावना के साथ सब कार्य, जिसमें युद्ध भी सम्मिलित है, जिसमें जाने चाहिए। यह हिंसा या अहिंसा का प्रश्न नहीं है, अर्जुन अपने उन विचारों के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग का प्रश्न है, जो अब धनु बन गये हैं। युद्ध के प्रति उभरी हिंसक आध्यात्मिक विचार या मर्यादा गुण की प्रधानता का परिणाम नहीं है, अर्जुन अज्ञान और वागना की उपज है। अर्जुन द्रुपद बाल को स्वीकार करता है कि वह दुर्बलता और अज्ञान के बशीभूत हो गया है। गीता हमारे सम्मुख जो आदर्श उपस्थित करती है, वह अहिंसा का है, और यह बात सातवें अध्याय में मन, वचन और कर्म की पूर्ण दशा के और बारहवें अध्याय में भवन की मनोदशा के वर्णन में स्पष्ट हो जाती है। कृष्ण अर्जुन को आश्विन या दुर्मति के बिना, राग या द्वेष के बिना युद्ध करने को कहता है और यदि हम अपने मन को ऐसी स्थिति में ले जा सकें, तो हिंसा असम्भव हो जाती है।^३

इस प्रकार स्पष्ट है गीता हिंसा की समर्पण नहीं है। भाव अध्याय के प्रतिकार के लिए अद्वैतबुद्धिपूर्वक विवशता में हिंसा करने का जो समर्पण गीता में दिखाई पड़ता है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि गीता हिंसा की समर्पण है। अपवाद के रूप में हिंसा का समर्पण नियम नहीं बन जाता। ऐसा समर्पण तो हमें जैन और बौद्ध आचार्यों में भी उपलब्ध हो जाता है।

अहिंसा का आधार—अहिंसा की भावना के मूलधार के सम्बन्ध में विचारकों में कुछ भिन्न धारणाओं को प्रथम मिला है, अतः उस पर सम्पक्षेपण विचार कर लेना आवश्यक है। मैकेन्ज़ी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू एथिक्स' में इस भिन्न विचारणा को प्रस्तुत

१. गीता, १।३२

२. दि भगवद्गीता एण्ड चेंजिंग वर्ल्ड, पृ० १२२

३. भगवद्गीता (रा०), पृ० ७४-७५

४. हिन्दू एथिक्स, मैकेन्ज़ी

किया है कि हिंसा की अवधारणा का विकास भय के आधार पर हुआ है। वे लिखते हैं—'असम्य मनुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते थे और भय की यह धारणा ही अहिंसा का मूल है।' लेकिन कोई भी प्रबुद्ध विचारक मेकेंजी की इस धारणा से सहमत नहीं होगा।

आचाराग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उसमें अहिंसा को आर्हत प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बनाया गया है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाय? सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है; वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुन सभी को मुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है।^१ अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और मृत्यु की चाह प्राणीय स्वभाव है, जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। अहिंसा का आधार 'भय' मानना गलत है क्योंकि भय के सिद्धान्त को यदि अहिंसा का आधार बनाया जायेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। जिसने भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी। जबकि जैनधर्म तो सभी प्राणियों के प्रति यहाँ तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीव्यामिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात कहता है, अतः अहिंसा को भय के आधार पर नहीं अपितु जिजीविषा और मुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यो के आधार पर अधिष्ठित किया जा सकता है। पुन जैनधर्म ने इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ ही अहिंसा को तुल्यता बोध का बौद्धिक आधार भी दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो अपनी पीड़ा को जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है।^२ प्राणीय पीड़ा की तुल्यता के बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा की नींव है।

वस्तुतः अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना, एवं अद्वैत-भावना है। समत्वभाव में सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं में अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं, जीवन के प्रति सम्मान से विकसित होती है। दशपैकान्तिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता अतः निर्ग्रन्थ प्राणव्य (हिंसा) का निषेध करने है।^३ वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्तव्य को जन्म देता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तम-ध्यानसूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा गया

१. अज्जरथ जाणइ मे बहिया जाणई एवं तुल्लमन्नमि, १।१।३

२. सब्बे पाणा विआउपा मुहमाया दुक्खपटिकुला, १।२।३ ३. दशपैकान्तिक १

है कि भय और वैर से मुक्त माधक, जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आस्था के समान जान कर उनको कभी भी हिंसा न करे।^१ यह मेक्रेनो की इस धारणा का, कि अहिंसा भय पर अविच्छिन्न है, मधोत्तर है। आचारामपूत्र में तो आत्मीयता की भावना के आधार पर ही अहिंसा-गिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गयी है। उसमें लिखा है—जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपत्याप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपत्याप करता है।^२ आगे पूर्णआत्मीयता की भावना को परिपुष्ट करने हुए महावीर कहने हैं—जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू सामित करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू परित्याग देना चाहता है, वह तू ही है।^३ भक्तपरिजा में भी लिखा है—किमा भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीवों की दया आनी हो दया है।^४ इस प्रकार जैनधर्म में अहिंसा का आधार आत्मवन् दृष्टि ही है।

बौद्धधर्म में अहिंसा का आधार—भगवान् बुद्ध ने भी अहिंसा के आधार के रूप में इसी 'आत्मवन् सर्वभूतेषु' की भावना को ग्रहण किया है। मुत्तनिपात में बुद्ध बहते हैं—'जैसा मैं हूँ वैसे ही ये सब प्राणी हैं, और जैसे ये सब प्राणी हैं वैसे ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का वध करे और न दूसरों से कराए।'^५

गीता में अहिंसा के आधार—गीताकार भी अहिंसा के सिद्धांत के आधार के रूप में 'आत्मवन् सर्वभूतेषु' की उदात्त भावना को लेकर चलता है। यदि हम गीता की अद्वैतवाद की समर्थक मानें तो अहिंसा के आधार की दृष्टि से जैन दर्शन और अद्वैतवाद में यह अन्तर है कि जहाँ जैन परम्परा में सभी आत्माओं की तार्त्विक समानता के आधार पर अहिंसा की प्रतिष्ठा की गई है, वहीं अद्वैतवाद में तार्त्विक अभेद के आधार पर अहिंसा की स्थापना की गई है। वाद कोई भी हो, पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता, जीवन के अधिकार का सम्मान और अभेद की साम्प्रतिक संवेदना या आत्मीयता की अनुभूति ही अहिंसा की भावना का उद्गम है। जब मनुष्य में इस संवेदन-दीप्तता का मजबूत रूप में उदय हो जाता है, तब हिंसा का विचार एक अगभावन बन जाता है। हिंसा का सफल सर्वत्र 'पर' के प्रति होना है, 'स्व' या आत्मीय के प्रति कभी नहीं। अतः आत्मवन् दृष्टि का विकास ही अहिंसा का आधार है।

१. उत्तराध्यायन, १।३

२. आचाराम, १।३।३

३. बह्वी, १।५।५

४. भक्तपरिजा-१३

५. मुत्तनिपात, ३।३।२७

६. दर्शन और चिन्तन, सप्ट २, पृ० १२५

जैनाग्रहों में अहिंसा की व्यापकता

जैन-विचारणा में अहिंसा का ध्येय कितना व्यापक है, इसका बोध हमें प्रश्नव्याकरणसूत्र से हो सकता है। उसमें अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम वर्णित हैं^१—१ निर्वाण, २ निवृत्ति, ३ समाधि, ४ शान्ति, ५ कीर्ति, ६ शान्ति, ७ प्रेम, ८ वैराग्य, ९ श्रुतांग, १० श्रुति, ११ दया, १२ विमुक्ति, १३ शान्ति, १४ सम्पत्क्याराधना, १५ मर्त्यो, १६ बोधि, १७ बुद्धि, १८ धृति, १९ समुद्धि, २० श्रद्धा, २१ बुद्धि, २२ स्थिति (धारक), २३ पुष्टि (पोषक), २४ मन्द (आनन्द), २५ भद्रा, २६ विमुक्ति, २७ लब्धि, २८ विशेष दृष्टि, २९ कल्याण, ३० मंगल, ३१ प्रमोद, ३२ विमुक्ति, ३३ रक्षा, ३४ सिद्धावाप्त, ३५ अनासक्त, ३६ वैकल्पस्थान, ३७ शिव, ३८ समिति, ३९ शील, ४० समय, ४१ शील परिग्रह, ४२ संवर, ४३ श्रुति, ४४ व्यवमान, ४५ उत्सव, ४६ यज्ञ, ४७ आयतन, ४८ यतन, ४९ अवग्राम, ५० आत्मात्मन, ५१ विश्वास, ५२ अमय, ५३ सर्व अमापात (किसी को न मारना), ५४ बोध (स्वच्छ), ५५ पवित्र, ५६ शुचि, ५७ पूता या पूजा, ५८ विमल, ५९ प्रभात और ६० निर्मलतर।

इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है। उसके अनुसार सभी सदगुण अहिंसा में निहित हैं और अहिंसा ही एकमात्र सदगुण है। अहिंसा सदगुण-समूह की सूचक है।

अहिंसा क्या है ?

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है।^२ यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों को स्पर्श नहीं करती। यह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं बही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नहीं करना है, यह अहिंसा का शरीर हो सकता है, अहिंसा को आत्मा नहीं। किमो को नहीं मारना यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैन धर्म अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तक सीमित रहो है। जैन-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अहिंसा शान्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रहो है। सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। अहिंसा क्रिया नहीं, सत्ता है, वह आत्मा की एक अवस्था है। आत्मा की प्रमत्त अवस्था ही हिंसा है और अप्रमत्त अवस्था ही अहिंसा है। आचार्य मद्रवाह्य ओषनिर्मुक्ति में लिखते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से



कर्ता को उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है। अतः ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है। हिंसा को उन स्थितियों में, जिनमें हिंसा को जाली हो या हिंसा करनी पड़ती हो, हिंसा का सत्य या इरादा अवश्य होता है, यह बात भलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतन्त्र रूप में हिंसा का संकल्प करने हैं और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी पहली अधिक निरुपद्रव कोटि की है क्योंकि आत्म-प्राप्तिक है।

हिंसा के विभिन्न रूप—हिंसक कर्म भी उपयुक्त तीन अवस्थाओं में यदि हिंसा हो जाने की तीसरी अवस्था को छोड़ दिया जाये तो हमारे गमना हिंसा के दो रूप बचने हैं—१. हिंसा की गयी हो और २. हिंसा करनी पड़ो हो। वे दशाएँ जिनमें हिंसा करनी पड़नी है, दो प्रकार की हैं—१. रक्षणार्थक और २. आजीविकार्थक, इनमें दो बातें सम्मिलित हैं—जीवन जीने के साधनों का अर्जन और उनका उपभोग।

जैन दर्शन में इसी आधार पर हिंसा के चार रूप माने गये हैं—

१. संकल्पना (संकल्पी हिंसा)—संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना। यह आक्रमणार्थक हिंसा है।

२. विरोधना—स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन एवं स्वत्वों (अधिकारों) के रक्षण के लिए विवशतावश हिंसा करना। यह सुरक्षात्मक हिंसा है।

३. उद्योगना—आजीविका उपार्जन अर्थात् उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होने वाली हिंसा। यह उपार्जनार्थक हिंसा है।

४. भारम्भना—जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा—जैसे भोजन का पकाना। यह निर्वाहार्थक हिंसा है।

हिंसा के कारण

जैन आचार्यों ने हिंसा के चार कारण माने हैं। १. राग, २. द्वेष, ३. कपाय अर्थात् क्रोध, अहंकार, कपट एवं लोभवृत्ति और ४. प्रमाद।

हिंसा के साधन

जहाँ तक हिंसा के मूल साधनों का प्रश्न है, वे तीन हैं—मन, वचन और शरीर। सभी प्रकार की हिंसा इन्हीं तीन साधनों द्वारा होती या की जाती है।

हिंसा और अहिंसा मनोदशा पर निर्भर

जैन विचारधारा के अनुसार न केवल पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि एवं वनस्पति-जगत् ही जीवनयुक्त है, बल्कि समग्र लोक सूक्ष्म जीवों से व्याप्य है। अतः प्रश्न होता है

कि क्या ऐसी स्थिति में कोई पूर्ण अहिंसक हो सकता है ? महाभारत में भी जगन् को मूढम जीवों से व्याप्त मानकर यही प्रश्न उठाया है । जल में बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वी पर तथा वृक्षों के फलों में भी अनेक जीव (प्राण) होते हैं । ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो इनमें से किसी को कभी नहीं मारता हो, फिर बिठने ही ऐसे मूढम प्राणी हैं, जो इन्द्रियो से नहीं, मात्र अनुमान से ही जाने जाते हैं—मनुष्य की पलकों के गिरने मान से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं, अर्धान् मर जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवों की हिंसा से नहीं बचा जा सकता है ।^१

प्राचीन युग से ही जैन-विचारकों की दृष्टि भी इस प्रश्न की ओर है । आचार्य मद्भवाद् इस सन्दर्भ में जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करने हुए लिखते हैं—त्रिकालदर्शी त्रिशेखर भगवान् का कथन है कि अनेकानेक जीव-नामद्वों से परिग्राह्य विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में अध्यात्म विगुण्डि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं है^२ । जैन-विचारधारा के अनुसार भी बाह्य हिंसा से पूर्णतया बच पाना सम्भव नहीं ।

हिंसा और अहिंसा का प्रत्यय बाह्य घटनाओं पर उत्पन्न निर्भर नहीं है जितना वह साधक की मनोदशा पर आधारित है । हिंसा और अहिंसा के विवेक का आधार प्रमुख रूप से आन्तरिक है । हिंसा में सकल्प की प्रमुखता है । भगवती सूत्र में एक सवाद के द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है । गणपद गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं—हे भगवन्, किमी श्रमणोपायक ने किसी जस प्राणी का बध न करने की प्रतिज्ञा ली हो, लेकिन पृथ्वीवाय की हिंसा की प्रतिज्ञा नहीं ग्रहण की हो, यदि भूमि खोदने हुए उसमें किसी प्राणी का बध हो जाय तो क्या उसकी प्रतिज्ञा भंग हुई ? महावीर कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं—उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई^३ । इस प्रकार सकल्प की उपस्थिति अथवा साधक की मानसिक स्थिति ही हिंसा-अहिंसा के विचार में प्रमुख तत्त्व है । गरवती जैन साहित्य में यही धारणा पुष्ट होती रही है । आचार्य मद्भवाद् का कथन है कि सावधानी पूर्वक चलने वाले साधु के पैर के नीचे भी कभी-कभी कीट, पतंग आदि सूक्ष्म प्राणी आ जाते हैं और दब कर मर भी जाते हैं, लेकिन उक्त हिंसा के निमित्त से उसे मूढम कर्म बध भी नहीं बताया गया है, क्योंकि यह अन्तर में सर्वतोभावेन उस हिंसा व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप है^४ । जो विवेक सम्पन्न अप्रमत्त साधक आन्तरिक विगुण्डि से मुक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा हो जाने वाली हिंसा भी कर्म-निर्जत का कारण है^५ । लेकिन जो व्यक्ति प्रमत्त है

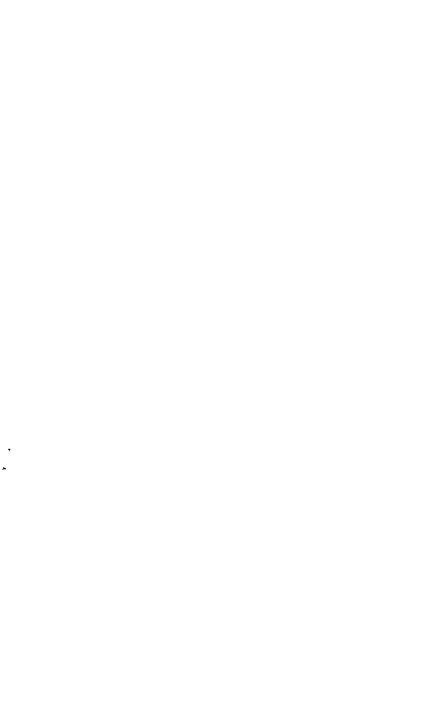
१. महाभारत, दान्ति पर्व १५।२५-२६

२. ओषनिर्मुक्ति, १००

३. भगवतीसूत्र, ७।१।९-७

४. ओषनिर्मुक्ति ७

५. ओषनिर्मुक्ति, ७५९



नहीं करता) तो उलटे दोष का भागी बनता है^१ यदि गीता में वर्णित युद्ध के अवसर को एक अणुवादात्मक स्थिति के रूप में देखें तो सम्भवतः जैन-विचारणा गीता से अधिक दूर नहीं रह जाती है। दोनों ही ऐसी स्थिति में व्यक्तित्व के चित्त-साम्य (कृतयोगित्व) और परिणत शास्त्रज्ञान (गीतार्थ) पर बल देती हैं।

अहिंसा के बाह्य पक्ष की अवहेलना उचित नहीं—हिंसा-अहिंसा के विचार में जिस भावात्मक आन्तरिक पक्ष पर जैन-आचार्य इतना अधिक बल देते रहे हैं, उसका महत्व निर्विवाद रूप में सभी को स्वीकार्य है। यही नहीं, इस सन्दर्भ में जैनदर्शन, गीता और बौद्ध-दर्शन में विचार साम्य है, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। यह निश्चित है कि हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में भावात्मक या आन्तरिक पहलू ही मूल केन्द्र है, लेकिन दूसरे बाह्य पक्ष की अवहेलना भी कथमपि सम्भव नहीं है। यद्यपि वैयक्तिक साधना की दृष्टि में आध्यात्मिक एवं आन्तरिक पक्ष का ही सर्वाधिक मूल्य है, लेकिन जहाँ सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पहलू को भी झूठगया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि में जिस पर विचार किया जा सकता है, वह तो आचरण का बाह्य पक्ष ही है।

गीता और बौद्ध आचार-दर्शन की अपेक्षा भी जैन-दर्शन ने इस बाह्य पक्ष पर गहनतमपूर्वक समुचित विचार किया है। जैन-परम्परा यह मानती है कि किन्हीं अपवाद की अवस्थाओं को छोड़ कर सामान्यतया जो विचार में है, वही व्यवहार में प्रकट होता है। अन्तरंग और बाह्य अथवा विचार और आचार के सम्बन्ध में द्रष्टृ दृष्टि उसे स्वीकार्य नहीं है। उनकी दृष्टि में अन्तरंग में अहिंसक वृत्ति के होते हुए बाह्य हिंसक आचरण करवाना, यह एक प्रकार की भ्रान्ति है, छलना है, आत्मप्रवचना है। सूत्रहृतांगसूत्र में कहा गया है कि यदि हृदय पापमुक्त हो तो (हिंसादि) क्रिया करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है, यह एक मिथ्या धारणा है। यदि गीता का यह मन्तव्य हो कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए भी हिंसात्मक क्रिया की जा सकती है, तो जैन दर्शन का उससे स्पष्ट विरोध है। जैनधर्म कहता है कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होने हुए हिंसा की नहीं जा सकती, यद्यपि हिंसा हो सकती है। हिंसा करना सदैव ही सकल्पात्मक होगा और आन्तरिक विगुण्डि के होने हुए हिंसात्मक कर्म का संकल्प सम्भव ही नहीं।^२

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में जैन-दृष्टि का सार यह है कि हिंसा चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक, वह आचार का नियम नहीं हो सकती।

दूसरे, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पक्ष की अवहेलना भी मात्र कतिपय अपवादशास्त्रमक अवस्थाओं में ही शम्य है। हिंसा का हेतु मानसिक प्रवृत्तियों, कारणों है

यद्यपि शरीरधारी रहने हुए पूर्ण अहिंसा एक आदर्श ही रहेगी, वह मयार्थ नहीं बन पावेगी। जब शरीर के संरक्षण का मोह समाप्त होगा तभी वह आदर्श मयार्थ की भूमि पर अवतरित होगा। फिर भी एक बात ध्यान में रखनी होगी, यह यह कि जब तक शरीर है और शरीर के संरक्षण की वृत्ति है, चाहे वह मायना के लिए हो क्यों न हो, यह कथनवि सम्भव नहीं है कि व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के आदर्श को पूर्णतः माकार कर सके। शरीर के लिए आहार आवश्यक है, कोई भी आहार बिना हिंसा के सम्भव नहीं होगा। चाहे हमारा मुनिवर्ग यह कहता भी हो कि हम औद्योगिक आहार नहीं लेते हैं किन्तु क्या उनकी विहार-यात्रा में माय चलनेवाला पूरा सवाजिमा, सेवा में रहने के काम पर लगनेवाले जोके औद्योगिक नहीं हैं? जब समाज में रात्रिमोक्ष सामान्य हो गया हो, क्या मण्ड्याकाशीन गोचरी में अनौद्योगिक आहार मिल पाना सम्भव है, क्या बरमीर में बन्ध्याकुमारी तक और बम्बई से कलकत्ता तक की गरी यात्राएँ औद्योगिक आहार के अभाव में निश्चिन्त सम्भव हो सकती हैं? क्या आर्हत-प्रवचन की प्रभावना के लिए मन्दिरों का निर्माण, पूजा और प्रतिष्ठा के समारोह, मण्ड्याओ का संचालन, मुनि-जनों के स्वागत और विदाई समारोह तथा संस्थाओं के अधिवेशन पट्टाया की मन्त्रोद्घुष्य अहिंसा के परिपालन के साथ कोई संघटि रख सकते हैं? हमें अपनी अन्तरात्मा से यह गह पूछना होगा। हो सकता है कि कुछ विरल संघटि और मायक हों जो इन कमीटियों पर खरे उतरने हों, मैं उनकी बात नहीं कहता, वे वास्तव बन्धनीय हैं, किन्तु सामान्य स्थिति क्या है? फिर भिक्षाचर्या, पाद-विहार, शरीर संचालन, स्वामोद्घात शिमे हिंसा नहीं है। पृथ्वी, अग्नि, वायु, वनस्पति यदि सभी में जीव है, ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो उन्हें नहीं मारता हो, पुनः जितने ही ऐसे क्षम प्राणी हैं जो इन्द्रियों में नहीं, अनुमान से जाने जाने हैं, मनुष्य की पक्षों के मारने मात्र से ही उनके बंधे टूट जाने हैं अथ औद्योगिकता से क्या नहीं जा सकता। एक ओर पट्टी-निर्वाण की अवधारणा और दूसरी ओर मन्त्रोद्घुष्य पूर्ण अहिंसा का आदर्श, जीवित रहकर इन दोनों में सन्तुष्टि बिना पाना असम्भव है। अथ जीवन मायानों को भी यह कहना पड़ा कि 'अनेकानेक जीव-मनुष्यों से परिष्कृत विरह में मायक का अहिंसक अन्तर में आत्मनिष्ठ विराटि की दृष्टि से ही है' (कोपनिर्दिष्ट, पृ. ८३)। केवल इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम अहिंसा को अन्तर्हर्ष मानकर जितना-जित दे दें। यद्यपि एक शरीरधारी के माने यह हमारी विवशता है कि हम हम और बाह्य दोनों को ही पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु हम ऐसा भी प्रयत्न करने चाहते हैं और जीवन की पूर्णता के साथ ही पूर्ण अहिंसा के आदर्श को भी उपलब्ध कर सकते हैं। कम से कम हिंसा को दिला दें जाने वाले हुए मायक के लिए जीवन का अन्तिम क्षण अवसर ही ऐसा है, जब वह पूर्ण अहिंसा के आदर्श को माकार कर सकता है। जीवन की अन्तिम क्षण अवसरों में वह हो सकेगा।

संधारा एवं शोदहवें अमोगी केवली गुणस्थान की अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार हो जाता है ।

पूर्ण अहिंसा सामाजिक सम्भव में

पुनः अहिंसा की सम्भावना पर हमें न केवल वैयक्तिक दृष्टि से विचार करना है अपितु सामाजिक दृष्टि से भी विचार करना है । चाहे यह सम्भव भी हो, व्यक्ति शरीर, सम्पत्ति, सध और समाज से निरपेक्ष होकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श की उपलब्धि कर सकता है, फिर भी ऐसी निरपेक्षता बिन्ही विरल माधको के लिए ही सम्भव होगी, सर्व सामान्य के लिए तो सम्भव नहीं कही जा सकती है । अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या सामाजिक जीवन पूर्ण अहिंसा के आदर्श पर सड़ा किया जा सकता है ? क्या पूर्ण अहिंसक समाज की रचना सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व मैं अपने समाज-रचना के स्वरूप पर कुछ बातें कहना चाहूँगा । एक तो यह कि अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में समाज की कल्पना ही सम्भव नहीं है । समाज जब भी सड़ा होता है आतमीयता, प्रेम और सहयोग के आधार पर सड़ा होता है अर्थात् अहिंसा के आधार पर सड़ा होता है । क्योंकि हिंसा का अर्थ है—घृणा, विद्वेष, आक्रामकता, और जहाँ भी ये वृत्तियाँ बलवती होंगी सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जावेगी, समाज वह जावेगा । अतः समाज और अहिंसा सहगामी हैं । दूसरे पक्षों में यदि हम मनुष्य की एक सामाजिक प्राणी मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि अहिंसा उनके लिए स्वाभाविक ही है । जब भी कोई समाज सड़ा होगा और टिकेगा तो वह अहिंसा की भ्रिति पर ही सड़ा होगा और टिकेगा । किंतु एक दूसरा पहलू भी है, वह यह कि समाज के लिए भी अपने अस्तित्व और अपने सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहाँ अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न है, वहाँ हिंसा अपरिहार्य है । हितों में टकराव स्वाभाविक है, अनेक बार तो एक का हित दूसरे के अहित पर, एक का अस्तित्व दूसरे के विनाश पर सड़ा होता है, ऐसी स्थिति में समाज-जीवन में भी हिंसा अपरिहार्य होगी । पुनः समाज का हित और सदस्य-व्यक्ति का हित भी परस्पर विरोध में हो सकता है । जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संघर्ष की स्थिति हो तो बहुजन हितार्थ हिंसा अपरिहार्य भी हो सकती है । जब समाज या राष्ट्र का कोई सदस्य या वर्ग अपना दूसरा राष्ट्र अपने हितों के लिये हिंसा पर अपना अग्रसर पर उभाड़ हो जाये तो निश्चय ही अहिंसा की दुर्गति देने में काम न चलेगा । जब तक जैन आचार्यों द्वारा उद्घोषित 'मानव जाति एक है' की कल्पना ग्राह्य नहीं हो पाती, जब तक सम्पूर्ण मानव समाज ईमानदारी के साथ अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, जब तक अहिंसक समाज की बात करना कपोलकल्पना ही कहल जायेगा । जैनत्व जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श की प्रशंसा करने है उसमें भी जब सध की या सध के किसी सदस्य की सुरक्षा या शान्ति का प्रश्न आया तो हिंसा की स्वीकार करना पड़ा । अर्थात्—

घात (हिंसा) को हिंसा के रूप में नहीं मानती है। यद्यपि इन अपवादपरमक स्थितियों में भी शाश्वत का राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठ कर अप्रमत्त चेता होना आवश्यक है। इस प्रकार तीनों परम्पराएँ इस सम्बन्ध में भी एकमत हो जाती हैं कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक है; बाह्य रूप में हिंसा के होने पर भी राग-द्वेष वृत्तियों से ऊपर उठा हुआ अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है, जबकि बाह्य रूप में हिंसा नहीं होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक है। तीनों परम्पराएँ इस सम्बन्ध में भी एकमत हैं कि अपने-अपने शास्त्रों की आज्ञानुसार आचरण करने पर होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है।^१

अतः अहिंसा सम्बन्धी सैद्धान्तिक मान्यताओं में सभी आचारदर्शन एकदूसरे के पर्याप्त निकट आ जाते हैं, लेकिन इन आधारों पर यह मान लेना भ्रांति है कि व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के प्रत्यय का विकास सभी आचारदर्शनों में समान रूप से हुआ है।

अहिंसा के सिद्धान्त की सार्वभौम स्वीकृति के बावजूद भी अहिंसा के अर्थ को लेकर सब धर्मों में एकरूपता नहीं है। हिंसा और अहिंसा के बीच सीधी गई भेद रेखा सभी में अलग-अलग है। कहीं पशुवध को ही नहीं, नरबलि को भी हिंसा की कोटि में नहीं माना गया है तो कहीं वानस्पतिक हिंसा अर्थात् पेड़-पौधों को पीड़ा देना भी हिंसा माना जाता है। चाहे अहिंसा की अवधारणा उन सबमें समानरूप से उपस्थित हो किन्तु अहिंसक चेतना का विज्ञान उन सबमें समानरूप से नहीं हुआ है। क्या मुसा के 'Thou shalt not kill' के आदेश का वही अर्थ है जो महावीर की 'मग्गेमस्स न हंतस्स' की शिक्षा का है? यद्यपि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसा के अर्थविकास की यह यात्रा किसी कालक्रम में न होकर मानव जाति की सामाजिक चेतना तथा मानवीय चिन्तन एवं संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो व्यक्ति या समाज जीवन के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना उसने अहिंसा के प्राप्य को उतना ही अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया। अहिंसा के अर्थ का यह विस्तार भी तीनो रूपों में हुआ है—एक ओर अहिंसा के अर्थ को व्यापकता दी गई, तो दूसरी ओर अहिंसा का विचार अधिक गहन होता बना गया है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मों मनुष्य की हत्या के निर्णय से प्रारम्भ होकर पशुजीवनिश्रय की हिंसा के निषेध तक इसने अर्थविस्तार पाया है तो दूसरी ओर प्राणविषोक्तन के बाह्य रूप से द्वेष, दुर्भावना और असावधानी (प्रमाद) के आन्तरिक रूप तक, इसने गहराईयों में प्रवेश किया है। पुनः अहिंसा ने 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक अर्थ में लेकर दया, करुणा, दान, सेवा और साधुयोग के विषयक अर्थ तक भी अपनी यात्रा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा का अर्थविकास त्रि-आयामी (भी हार्मोनिक) है। अतः जब भी हम अहिंसा की अवधारणा को लेकर कोई कर्षी करना चाहते हैं तो हमें उसके सभी पहलुओं की ओर ध्यान देना होगा।

जीनागमों के संदर्भ में अहिंसा के अर्थ की व्याप्ति को लेकर कोई चर्चा करने के पूर्व हमें यह देख लेना होगा कि अहिंसा की इस अवधारणा ने कहीं कितना अर्थ पाया है।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थविस्तार

मुझ ने धार्मिक जीवन के लिए जो दस आदेश प्रसारित किये थे उनमें एक है 'तुम हत्या मत करो' किन्तु इस आदेश का अर्थ यहूदी समाज के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नहीं करने से अधिक नहीं रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देना हुआ देखते हैं। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहमानुर्रहीम'—करुणाशील कह कर सम्बोधित किया हो, और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीवधारियों का जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उनमें अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वार्थियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यों के प्रति इस्लाम आज तक संवेदनशील नहीं बन सका है। पुन यहूदी और इस्लाम दोनों ही धर्मों में धर्म के नाम पर पशुबलि की सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार इन धर्मों में मनुष्य की संवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मों अर्थात् अपनी से आधिक अर्थविस्तार नहीं पा सकी है। इस संवेदनशीलता का अधिक विवाम हमें ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की बात कहते हैं। वे अहिंसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र में अपने और पराये, स्वधर्मों और विरमों, शत्रु और मित्र के भेद में उगार उठ जाते हैं। इस प्रकार उनको करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरती है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाईयों ने धर्म के नाम पर खून की होली सेजो हो और ईश्वर-पुत्र के आदेशों की अवहेलना की हो किन्तु ऐसा तो हम नहीं करते हैं। धर्म के नाम पर पशुबलि की स्वीकृति भी ईसाई धर्म में नहीं देखी जाती है। इस प्रकार उसमें अहिंसा की अवधारणा अधिक व्यापक बनी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिंसा को एक प्रियायक दिना भी प्रदान की है। फिर भी सामान्य जीवन में पशुबलि और मासाहार के निषेध की बात कहीं नहीं उठाई गई है। अतः उसकी अहिंसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानो जा सकती है, वह भी समस्त प्राणी जगत् की पीड़ा के प्रति संवेदनशील नहीं बन सका।

भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ-विस्तार

चाहे वेदों में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, ६ ७५ १४) के रूप में एक दूसरे की सुरक्षा की बात कही गई हो अथवा 'मित्राभ्याहृ बधुषा सर्वाणि भूतानि समोशे' (यजुर्वेद, ३६ १८) के रूप में सर्वप्राणियों के प्रति मित्र-भाव की कामना की गई हो किन्तु वेदों की यह अहिंसक चेतना भी मानवजाति तक ही सीमित रही है। मात्र इतना ही नहीं, वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। अतः वेदों में अहिंसा की अवधारणा अत्यंत सीमित रही, वेदों में अहिंसा के अर्थ-विस्तार की आवश्यकता थी।

है,^१ तथापि प्राणिमयों की ऐन्द्रिक क्षमता एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर हिंसा-रोग की तीव्रता आगर्हित होती है। एक वस जीव की हिंसा करता हुआ मनुष्य सत्सम्बन्धित अनेक जीवों की हिंसा करता है।^२ एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनन्त जीवों की हिंसा करने वाला होता है।^३ इस प्रकार यह निश्चिन्त होता है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा वस जीवों की ओर वस जीवों में पंचेन्द्रिय की, पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य की ओर मनुष्यों में भी ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट है। इतना ही नहीं, वस जीव की हिंसा करनेवाले को अनेक जीवों की हिंसा का और ऋषि की हिंसा करनेवाले को अनन्त जीवों की हिंसा का करनेवाला बता कर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में सत्सत्ता का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है प्राणी की ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास क्षमता।

जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी ध्यान में रखना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है— (१) प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और (२) उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक गन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। सम्भवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चींटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है। यह आवश्यक है कि हम अपरिहार्य हिंसा को हिंसा के रूप में समझे रहे, अन्यथा हमारा कहना का रोग शुरू जायेगा। विश्रान्त में जाते हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उससे प्रति आत्मजालानि और द्वेषित के प्रति करुणा की धारा बहने नहीं पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जायेगी जैसे—कसौटी काटक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मान्य नहीं है कि हमारा हृदय कष्ट से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-सूत्र नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रहे तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा

१. मध्वगीश्वर, ७।८।१०२.

२. बही, १।३।१०१

३. बही, १।१।१०३.

की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज में सेवा की गयी भी कहा सकेगी ।

अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता)

जैन धर्म में अनाग्रह

जैन दर्शन के अनेकातवाद का परिणाम सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में वैचारिक सहिष्णुता है। अनाग्रह का सिद्धान्त सामाजिक दृष्टि से वैचारिक अहिंसा है। अनाग्रह अपने विचारों की तरह दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है। वह उस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे ही पास है, दूसरे के पास नहीं हो सकता। यह हमें यह बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरे के पास भी। सत्य का बोध हमें हो हो सकता है, किन्तु दूसरों को सत्य का बोध नहीं हो सकता—यह कहने का हमें अधिकार नहीं है। सत्य का सूर्य न केवल हमारे घर को प्रकाशित करता है बल्कि दूसरों के घरों को भी प्रकाशित करता है। वस्तुतः वह सर्वत्र प्रकाशित है। जो भी उन्मुक्त दृष्टि से उसे देख पाता है, वह उसे पा जाता है। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का है। जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है कि जीवन जहाँ बही हो, उसका सम्मान करना चाहिए, उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है कि सत्य जहाँ भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए। जीनाचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जो स्वार्थ पूर्ति से ऊपर उठ गया है, जो लोकाहित में निरत है जो विषय स्वरूप का जाता है और त्रिभुजा चरित निर्मल और अद्वितीय है, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो, शंकर हो, मैं उसे प्रणाम करता हूँ। मुझे न जिन के वचनों का पश्याग्रह है और न कपिल आदि के वचनों के प्रति द्वेष, मुक्तिपूर्ण वचन जो भी हो, वह मुझे प्राज्ञ है।^१

बन्धुतः पश्याग्रह की धारणा से विवाद का जन्म होता है। व्यक्ति जब स्व-मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करता है, तो परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में संघर्ष का प्रादुर्भाव हो जाता है। वैचारिक आग्रह न केवल वैयक्तिक नैतिक विकास को कुंठित करता है, बल्कि सामाजिक जीवन में विग्रह, विपाद और वैमनस्य के बीज बो देता है। सुबहलाय में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाने है और लोक को सत्य से भटकाते हैं वे एकान्तवादी स्वयं सत्कारणक में भटकते रहते हैं।^२ वैचारिक आग्रह मतवाद या पक्ष को जन्म देता है

१. लोकतत्त्व निर्णय १।१७, १८.

२. सर्वं सर्वं पसंसता शरहंता परं वयं ।

जो उ तस्य विदुस्सन्धि ससारे से विदुस्सिया ॥—सूत्रकृष्ण १।१।२।२१.

और उगमे राग-द्वेष की वृद्धि होती है। आचारंगसूत्र में कहा गया है कि प्रत्येक 'बाद' राग-द्वेष की वृद्धि करनेवाला है और जब तक राग-द्वेष है, तब तक मुक्ति भी सम्भव नहीं। इस प्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में नैतिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए वैचारिक आप्रह का परिहाण कर जीवनदृष्टि को अगाधमग्न बनाना आवश्यक माना गया है।

जैन दर्शन के अनुसार एकान्त और आप्रह मिथ्यात्व है क्योंकि वे सत्य के अनन्त पक्षों का अपन्ना करने हैं। जैन तत्त्वज्ञान में प्रत्येक सत्ता अनन्त गुणों का समूह मानी गयी है—अनन्तधर्मात्मक वस्तु। एकान्त उगमे तो एक का ही ग्रहण करता है। इनका ही नहीं, वह एक के ग्रहण के साथ अन्य का निषेध भी करता है, उगमकी भाँति में तब 'इतना' ही है, मात्र यही सत्य है। इस प्रकार एक और वह अनन्त सत्य के अनेकानेक पक्षों का अपन्ना करता है। दूसरी ओर यह समुच्च के ज्ञान को कुण्ठित एवं मोहित करता है। आप्रह की उपस्थिति में अनन्त सत्य को जानने की जिज्ञासा ही नहीं होती, तो फिर सत्य या परमार्थ का साक्षात्कार तो बहुत दूर की बात है। यदि कुण्ठ का भेद कुण्ठ को ही समुद्र समझने लग जाए तो न तो कोई उसे उगमे मिथ्याज्ञान से उबार सकता है और न उसे अप्रह जलराशि का दर्शन करा सकता है। यही स्थिति एकान्त या आप्रह बुद्धि की है जिसमें न तो तत्त्व का पर्यायज्ञान होता है और न तत्त्व-साक्षात्कार ही होता है।

जैन विचारधारा के अनुसार मिथ्याज्ञान किमी अमत् या अनस्तिस्त्ववान् तत्त्व का ज्ञान नहीं है, क्योंकि जो अमत् है, मिथ्या है, उसका ज्ञान कैसे होगा? जैन दर्शन के अनुसार सारा ज्ञान सत्य है, सत्य यही है कि उसमें एकान्तवादिता या आप्रह न हो। एकान्त सत्य के अनन्त पहलुओं को आवृत्त कर अन्त को ही पूर्ण के रूप में प्रकट करता है और इस प्रकार अन्त को पूर्ण बताकर व्यक्ति के ज्ञान को मिथ्या बना देता है। साथ ही आप्रह अपने में निहित छद्म राग से सत्य को रमोन कर देता है। इस प्रकार एकान्त या आप्रह तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार में बाधक है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व, परमार्थ या आत्मा पथातिक्रान्त है, अतः पथ या आप्रह के माध्यम से उसे नहीं पाया जा सकता। वह तो परवसत्य है, आप्रहबुद्धि उसे नहीं देख सकती। विचार या दृष्टि जब तक पथ, मत या बाधों में अनावरित नहीं होती, सत्य भी उसके लिए अनावृत्त नहीं होता। जब तक आँखों पर राग-द्वेष, आसक्ति या आप्रह का रमोन चरना है, अनावृत्त सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं।

दूसरे, आप्रह स्वयं एक बन्धन है। वह वैचारिक आसक्ति है। विचारों का परिग्रह है। आसक्ति या परिग्रह चाहे पदार्थों का हो या विचारों का, वह निश्चित ही बन्धन

है। आग्रह विचारों का बन्धन है और अनाग्रह वैचारिक मुक्ति। विचार में जब तक आग्रह है, तब तक पश रहेंगा। यदि पश रहेगा, तो उसका प्रतिपश भी होगा। पश-प्रतिपश, यही विचारों का ससार है, इसमें ही वैचारिक संघर्ष, साम्प्रदायिकता और वैचारिक मनोमालिन्य पनपते हैं। जैनाचार्यों ने कहा है कि बचन के जितने विकल्प हैं उतने ही नयवाद (दृष्टिकोण) हैं और जितने नयवाद, दृष्टिकोण या अभिव्यक्ति के इन हैं उतने ही मत-मतान्तर (पर-समय) हैं। व्यक्ति जब तक पर-समय (मत-मतान्तरों) में होता है तब तक स्व-समय (पञ्चातिक्रान्त विमुक्त आत्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि बिना आग्रह का परित्याग किये मुक्ति नहीं होती। मुक्ति पश का आश्रय लेने में नहीं, वरन् पञ्चातिक्रान्त अवस्था को प्राप्त करने में है। वस्तुतः जहाँ भी आग्रहबुद्धि होगी, विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन सम्भव नहीं होगा और जो विपक्ष में निहित सत्य नहीं देवेगा वह सम्पूर्ण सत्य का दृष्टा नहीं होगा।

भगवान् महावीर ने बताया कि आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। आग्रह राग है और जहाँ राग है वहाँ सम्पूर्ण सत्य का दर्शन सम्भव नहीं। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान या केवलज्ञान केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं अनेकासी गौतम के जीवन की घटना इसकी प्रत्यक्ष साक्ष्य है। गौतम को महावीर के जीवनकाल में कैवल्य की उपलब्धि नहीं हो सकी। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन सा तत्त्व बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान दिया था। उन्होंने गौतम से कहा था, “गौतम! तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है, रागात्मकता है, वही तेरे केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) का बाधक है।” महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में सड़े होकर नहीं किया जा सकता। सत्य तो सर्वत्र उपस्थित है केवल हमारी आग्रहयुक्त या मताग्रहदृष्टि उसे देख नहीं पाती है और यदि देखती है तो उसे अपने दृष्टिराग से दूषित करके ही। आग्रह या दृष्टिराग से वही सत्य असत्य बन जाता है। अनाग्रह या समदृष्टित्व से वही सत्य के रूप में प्रकट हो जाता है। अतः महावीर ने कहा, यदि सत्य को पाना है तो अनाग्रहो या मतावादों के घेरे में ऊपर उठो, दोषदर्शन की दृष्टि को छोड़कर सन्यान्वेपी बनो। सत्य कभी मेरा या पराया नहीं होता है। सत्य तो स्वयं भगवान् है (मज्झं सल्लु भगव)। वह तो सर्वत्र है। दूसरों के सत्यों को झुठलाकर हम सत्य को नहीं पा सकते हैं। सत्य विवाद से नहीं, समन्वय से प्रकट होता है।

सत्य का दर्शन केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। जैन धर्म के अनुसार सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है। सत्य का साधक वीतराग और अनाग्रही होता है। जैन धर्म अपने अनेकान्त के मिद्धान्त के द्वारा एक अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है, ताकि वैचारिक असहिष्णुता को समाप्त किया जा सके।

बौद्ध आचार-दर्शन में वैचारिक अनाग्रह

बौद्ध आचारदर्शन में मध्यम मार्ग की धारणा अनेकानुवाद की विचारधाराओं का ही एक रूप है। इसी मध्यम मार्ग में वैचारिक भेन में अनाग्रह की धारणा का विराज हुआ है। बौद्ध विचारकों ने भी मध्य की अनेक पद्धतियों में दुष्ट देना और यह माना कि मध्य की अनेक पद्धतियों के साथ देना ही विज्ञा है। घेरगाथा में कहा गया है कि जो मध्य का एक ही पद्धत देना है वह मूर्ख है।^१ पण्डित तो मध्य को भी (अनेक) पद्धतों में देता है। वैचारिक आपत्त और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टि-बोध में होता है, एकांगदशी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उन्मत्त हैं।^२

बौद्ध विचारधारा के अनुसार आपत्त, पक्ष या एकांगी दृष्टि राग के ही रूप है। जो इस प्रकार के दृष्टि-राग में रत होता है वह जगत् में कलह और विवाद का मूल बनता है और स्वयं भी आमक्ति के कारण भ्रमण में पड़ा रहता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टि, पक्ष या आपत्त से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है और न भ्रमण में। बौद्ध के निम्न शब्द बड़े मर्मस्थानों हैं, "जो अपनी दृष्टि में दृष्टावही हो दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अनुद्ध बतानेवाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह सगार में विवाद उन्मत्त करता है। जो सभी धारणाओं को स्वागत देता है, वह मनुष्य सगार में कलह नहीं करता।"

यै विवाद के दो फल बताना है। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है; दूसरे, वह विग्रह या अज्ञान्ति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित इन सब में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करनेवाला, आमक्तिरहित वह क्या ग्रहण करे। (लोग) अपने धर्म को परिपूर्ण बनाने हैं और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं। इस प्रकार भिन्न मत वाले ही विवाद करने हैं और अपनी धारणा को मजबूत बनाते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा (निन्दा) में हीन हो जाय तो धर्म में श्रेष्ठ नहीं होता। जो किसी वाद में आमक्त है, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। विवेकी आश्रय तृष्णा-दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि इस सगार में घटियों की छोड़कर वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अज्ञानता में दान्त वह त्रिवे अन्य लोग ग्रहण करने हैं उसकी अपेक्षा करता है। वाद में अनामक्त, दृष्टियों से पूर्ण रूप से मुक्त वह धीर सगार में लिप्त नहीं होता। जो कुछ दृष्टि, श्रुति या विचार है, उन सब पर वह विवश है। पूर्ण रूप से मुक्त, मार-स्पर्श

१. घेरगाथा, १।१०६.

२. उदान, ६।४.

३. मुत्तिनिपाठ, ५०।१६-१७.

बहु सम्कार, उपरति तथा लूण्ण-रहित है ।^१

इतना ही नहीं, बुद्ध महाचरण और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में इस प्रकार के बाद-विवाद या वाग्बिनाम या आग्रह-वृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं । उनकी दृष्टि में यह पश्चात्तु या बाद-विवाद निर्वाण-मार्ग के पथिक का कार्य नहीं है । यह तो मल्लविद्या है—राजभोजन से पुष्ट पशुवन की तरह (प्रतिवादी के लिए) ललकारने वाले वादी का उम जैसे वादी के पास भोजना चाहिए क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही छेप नहीं रहा । जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत को ही सत्य बताने हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर दुश्मनारे माय बहम करने को यहाँ कोई नहीं है ।^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध दर्शन वैचारिक अनाग्रह पर जैन दर्शन के समान ही जोर देता है बुद्ध ने भी महावीर के समान ही दृष्टिराग को अनुपयुक्त माना है और बताया कि सत्य का सम्पूर्ण प्रकटन वही होता है, जहाँ सारी दृष्टियाँ सून्य हो जाती हैं । यह भी एक विविध संयोग है कि महावीर के अन्तेवामी इन्द्रभूति के समान ही बुद्ध के अन्तेवामी आनन्द को भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हन् पद प्राप्त नहीं हो सका । सम्भवतः यहाँ भी यही मानना होगा कि शास्त्र के प्रति आनन्द का जो दृष्टिराग था, वही उसके अर्हन् होने में बाधा था । इस सम्बन्ध में दोनों धर्मों के निष्कर्ष समान प्रतीत होने हैं ।

गीता में अनाग्रह

वैदिक परम्परा में भी अनाग्रह का समुचित महत्त्व और स्थान है । गीता के अनुसार आग्रह की वृत्ति आधुरी वृत्ति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आधुरी स्वभाव के लोग दम्भ, मान और भद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आग्रह से अज्ञान में मिथ्या मिद्वान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हो सनार में प्रवृत्ति करते रहते हैं।^३ इतना ही नहीं, आग्रह का प्रत्यय तप, ज्ञान और धारणा मनो की विवृत्त कर देता है । गीता में आग्रहयुक्त तप को तामस तप और आग्रहयुक्त धारणा को तामस धारणा कहा है ।^४ आचार्य दाहर तो जैन परम्परा के समान वैचारिक आग्रह की मुक्ति में बाधक मानते हैं। विवेकबुद्धामणि में वे कहते हैं कि विद्वानों की वाणी की कुशलता, छात्रों की धारणाहिता, शास्त्र-व्याख्यान की पटुता और विद्वत्ता यह सब भोग का ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष का नहीं ।^५ दम्भमान जित को भटकाने वाला एक महान् बल है । वह चित्तभ्रमि का ही कारण है ।^६ आचार्य विभिन्न मन-अवस्थारों में युक्त शास्त्राध्ययन को भी निरर्थक मानते हैं । वे कहते हैं कि यदि परमसत्य का अनुभव नहीं किया तो शास्त्राध्ययन निराल है और यदि परमसत्य का ज्ञान हो गया तो शास्त्राध्ययन अनावश्यक

१. मुननिपाठ, ५११२, ३, १०, ११, १६-२०.

२. गीता, १६-१०.

३. विवेकबुद्धामणि, १०.

४. बही, ४५१८-९.

५. बही, १०१११, १८१५ ✓

६. बही, ६२.

है।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य दारर की दृष्टि में वैचारिक आग्रह या दार्शनिक मान्यताओं साम्प्रदायिक साधना की दृष्टि में अधिक मूल्य नहीं रखती। वैदिक नीति सेना दूकानाच्य आग्रह की अनुचित और मूर्खता का कारण मानते हुए कहते हैं कि अत्यन्त आग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि अति मय जगत मान का कारण है। अत्यन्त दान में दरिद्रता, अत्यन्त लोभ में तिरस्कार और अत्यन्त आग्रह में मनुष्य की मूर्खता परिलक्षित होती है।^२ वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी वैचारिक अग्रह को अनैतिक माना और सर्वधर्म समभाव के रूप में वैचारिक अनाग्रह पर जोर दिया। वस्तुतः आग्रह सत्य का होना चाहिए, विचारों का नहीं। सत्य का आग्रह सभी हो सकता है जब हम अपने वैचारिक आग्रहों से ऊपर उठें। महात्माजी ने सत्य के आग्रह को तो स्वीकार किया, लेकिन वैचारिक आग्रहों को बर्फी स्वीकार नहीं किया। उनका सर्वधर्म समभाव का सिद्धान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में अनाग्रह को सामाजिक जीवन की दृष्टि से सदैव महत्त्व दिया जाता रहा है, क्योंकि वैचारिक सधर्मों में समाज को बचाने का एकमात्र मार्ग अनाग्रह ही है।

वैचारिक सहिष्णुता का आधार—अनाग्रह (अनेकाग्रत दृष्टि)

जिस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल में वैचारिक सधर्म उपस्थित थे और प्रत्येक मतवादी अपने को सम्यक्दृष्टी और दूसरे को मिथ्यादृष्टी कह रहा था, उसी प्रकार वर्तमान युग में भी वैचारिक सधर्म अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची आ रही हैं। वहीं धर्म के नाम पर, तो वहीं राजनैतिक बाद के नाम पर एकदूसरे के विरुद्ध विषममन किया जा रहा है। धार्मिक एवं राजनैतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है। प्रत्येक धर्मवाद या राजनैतिक बाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रान्त बता रहा है। इस धार्मिक एवं राजनैतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के स्वतः का प्यारा बना हुआ है। आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विद्रुम्भ है। एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक पार्टियों या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आन्तरिक वातावरण को विद्रुम्भ एवं जनता के पारस्परिक सम्बन्धों को तनावपूर्ण बनाये हुए हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्र स्वयं भी अपने को किसी एक निष्ठा से सम्बन्धित कर गुट बना रहे हैं। और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विद्रुम्भ बना रहे हैं। मान इतना ही नहीं यह वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विघात बना रही है। पुरानी और नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अदान्त और बलहपूर्ण हो रहा है। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक

ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इन वैचारिक अमहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उसमें बचने का निर्देश दिया था। वर्तमान में भी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन में जो वैचारिक सघर्ष और तनाव उपस्थित हैं उनका सम्यक् समाधान इन्हीं महापुरुषों की विचार सरणी के द्वारा खोजा जा सकता है। आज हमें विचार करना होगा कि बुद्ध और महावीर की अनाग्रह दृष्टि के द्वारा किस प्रकार धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक महिष्णुता को विकसित किया जा सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता

सभी धर्म-माधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अह एव तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की माधना का लक्ष्य बोधरागता है, तो बौद्ध धर्म का साधना-लक्ष्य बोधतृष्णा होना माना गया है। वही वेदान्त में अह और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अह का ही रूप नहीं है? और जब तक वह उपस्थित है धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? पुनः जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मदाग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म की आविर्भाव मानव जाति में शान्ति और अमहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अन्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में 'धर्म' नहीं, किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्वाकांक्षा, उसका अहंकार, ही यह सब बरबाना रहा है। यह धर्म का नकार ओठे अग्रह है।

धर्म एक या अनेक—युक्त प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक है या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी, साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जब कि साधनात्मक धर्म अनेक है। रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप में अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण सकता है। सभी धर्मों का साध्य है समस्त-ज्ञान (समधि) अर्थात्

जीन, बीड और गीता का सामान्य शक्ति

शक्ति की स्थापना तथा उसके लिए दिशोग के जनक राग द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय कौन हैं? यही विचारभेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचारभेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से परस्पर विरोधी नहीं बहने जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से किसी हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह धर्माध्य में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र में संकुच प्रत्येक रेखा में एक-दूसरे को काटने की समता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परिधायक करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य सभी एका में ही साधनरूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कीमा? अनेकान्त या अनाग्रह धर्मों की साम्यपरक सूत्रभूत एकता और साधनपरक अनेकता की इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्मधाराओं ने अपने युग की सांसारिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धांतों एवं साधना के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देव-काल्पन्य परिस्थितियों और साधक की साधना की समता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्मधाराओं के प्रति समता (रागात्मकता) और उसके मन में अपने ध्यात आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना-पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। पल्लववत् विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्य-दायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य-स्वभाव बड़ा विचित्र है। उसके अहं को जरा की चोट लगते ही वह अपना अनाहुत अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है लेकिन यही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देव-काल्पन्य तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अनिश्चित पूर्वप्रचलित परम्पराओं में आई हुई विवृतियों के समीपन के लिए भी सम्प्रदाय बने। धार्मिक सम्प्रदाय बनने के कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है १. अनुचित कारण और २. उचित कारण। १. अनुचित कारण—(१) ईर्ष्या के कारण, (२) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्ता के कारण, (३) पूर्वसम्प्रदाय से अलग होने के कारण, (४) किसी विशेष साधन को प्राप्त करने की दृष्टि से तथा (५) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में इच्छा, शक्ति एवं शक्त के अनुसार समीपन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों में अन्तिम तीन को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक कटुता को जन्म देते हैं। विश्व इतिहास का अध्ययन हमें मालूम होता है कि इस समय, अत्याचार, नृशत्रुता में अप्रमत्त दुष्टतायें फैली हैं। आवश्यक तो यह है कि इस समय, अत्याचार, नृशत्रुता में

सत्ता और रत्न-प्राप्त को धर्म या शान्ति कहना गलत है। शान्ति-प्रदान धर्म ही अनादृष्ट का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनादृष्ट का एक मुख्य कारण यह भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और धर्मों में आज भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनादृष्टी हो तो हममें भी एकता और समन्वय के गुण परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकान्त विचार-दृष्टि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समानता के द्वारा एकता का प्रमाण नहीं करती है क्योंकि वैयक्तिक रुचिभेद एवं क्षमताभेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होने हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उत्पत्ति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अस्वाभाविक ही नहीं अपितु अनादृष्ट और संघर्ष का कारण भी है। अनेकान्त, विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समानता का प्रमाण नहीं होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में गुमनाम रूप में समोचित करने का प्रमाण हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्रापिक आवश्यकता है धार्मिक गहिराई और सर्वधर्म समभाव की।

अनेकान्त के समर्थक अनादृष्टियों में सर्वत्र धार्मिक गहिराई का परिचय दिया है। आचार्य हरिप्रसाद की धार्मिक गहिराई तो सर्वविदिता ही है। अपने ग्रन्थ वास्तविकता समुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनारम्भवाद और न्यायदर्शन के ईश्वरचतुर्मुखावाद, वेदान्त के सर्वोत्तमवाद (ब्रह्मवाद) में भी समानता दिखाने का प्रयास किया। उनकी समन्वयवादी दृष्टि का संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्वदेव-समभाव का परिचय देते हुए कहा था—

भगवतीश्वर जनना, रागाद्याद्यमुपागता यस्य।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, त्रिनो वा नमस्तम्यै।

समस्त परिधमन के कारण रागादि त्रिभुक्तों के साथ ही जुड़े हैं, उमें मैं प्रणाम करता हूँ चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो।

उपाध्याय यदोवित्रय जी लिखते हैं—

“सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन में द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वास्तविक दृष्टि में देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों की। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यायाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ वही जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान रखता है। माध्यम्य भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सकल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों

१. एक लक्ष २० हजार रुपये
 २. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ३. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ४. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ५. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ६. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ७. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ८. एक लक्ष २० हजार रुपये
 ९. एक लक्ष २० हजार रुपये
 १०. एक लक्ष २० हजार रुपये

१. राष्ट्रवाद : राष्ट्रवाद का अर्थ है कि एक राष्ट्र के नागरिकों के हितों को ध्यान में रखकर ही नीति बनानी चाहिए। राष्ट्रवाद का अर्थ यह नहीं है कि एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों से अलग रखना है। राष्ट्रवाद का अर्थ यह है कि एक राष्ट्र के नागरिकों के हितों को ध्यान में रखकर ही नीति बनानी चाहिए।

१. अन्वयानुसार, ६९-७३.

सामाजिक एवं पारिवारिक सहिष्णुता

बौद्धिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों के विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टि-भेद है। पिता जिस परिवेश में पला है उसी संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बंश है, उसी मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृपक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि बहू उतना ही स्वतन्त्र जीवन जीये जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत स्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टि भेद है उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बान की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से जिस ढंग से काम लेना चाहता है उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक दृष्टि है जिसके द्वारा एक सहिष्णु मानव का निर्माण किया जा सकता है और मानव-जाति को वैचारिक संघर्षों से बचाया जा सकता है।

अनाग्रह की अवधारणा के फलित—सत् अनन्त पहलुओं से युक्त है तथा मानवीय ज्ञान के माधन सीमित एवं सापेक्ष है, अतः सामान्य व्यक्ति का ज्ञान सीमित (आंशिक) और सापेक्ष होता है। दूसरे आग्रह, जो वस्तुतः वैचारिक राग ही है, सत्य को रंगीन बना देता है। रागात्मिका बुद्धि भी सत्य को विवृत कर देती है। परिणामस्वरूप सामान्य व्यक्ति को जो भी ज्ञान होता है वह अपूर्ण ही होता ही है, अशुद्ध भी होता है। अतः सत्यान्वेषण एवं विचारबुद्धि की आवश्यक शर्तें निम्न हैं—

१. सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान सामान्य मानव के लिए सम्भव नहीं है, सत्य के

- पहले हमारे लिए आवृत्त बने रहने हैं। सत्य, दृग्गणों के विचार एवं ज्ञान में भी सत्यता सम्भव है, यह बात स्वीकार करनी होगी।
२. मत्स्यान्वेगण आप्रह्वबुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है। अनाग्रही दृष्टि ही मत्स्य को प्रदान कर सकती है।
३. राग-द्वेषजन्य सम्कारों से ऊपर उठकर 'मेरा मो मत्स्या' के स्थान पर 'मत्स्या मो मेरा' यह दृष्टि स्मरना चाहिए। मत्स्य चाहे अपने पाग हो या विरोधी के पात, उसे स्वीकार करने के लिए मर्दव तैयार रहना चाहिए।
४. जब तक हम राग-द्वेष के सम्कारों में अपने को ऊपर नहीं उठा सकें और पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकें तब तक केवल मत्स्य के प्रति त्रिजामा रखना चाहिए। मत्स्य अपना या पराया नहीं होता है।
५. अपने विचार पक्ष के प्रति भी विपक्ष के समान तीव्र समालोचक दृष्टि रखना चाहिए।
६. विपक्ष के मत्स्य को उगी के दृष्टिकोण के आधार पर समझने का प्रयास करना चाहिए।
७. अनुभव या ज्ञान की वृद्धि के साथ यदि नये मत्स्यों का प्रकटन हो तथा पूर्व-प्रदीप्त विचार अमरप प्रतीत हो तो आप्रह्वबुद्धि का त्याग कर नये विचारों को स्वीकार करना चाहिए और पुरानी मान्यताओं को तदनुरूप संशोधित करना चाहिए।
८. विरोध को स्थिति में प्रज्ञापूर्वक समन्वय के सूत्र खोजने का प्रयास करना चाहिए।
९. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण रखना चाहिए, क्योंकि उनके विचारों में भी सत्यता की सम्भावना निहित है।

अनासक्ति (अपरिग्रह)

अहिंसा और अनाग्रह के बाद जैन आचारदर्शन का तीसरा प्रमुख गिद्वान्त अनासक्ति है। अहिंसा, अनाग्रह और अनासक्ति इन तीन तत्त्वों के आधार पर ही जैन आचारदर्शन का भव्य महल खड़ा है। यही अनासक्ति सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में अपरिग्रह बन जाती है।

जैन धर्म में अनासक्ति

जैन आचारदर्शन में जिन पाँच महाव्रतों का विवेचन है, उनमें से तीन महाव्रत अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह अनासक्ति के ही व्यावहारिक रूप हैं। अनासक्ति के अन्तर में आगस्ति दो रूपों में प्रकट होती है—१. संग्रह-भावना और २. भोग-भावना। संग्रह-भावना और भोग-भावना में प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरों के अधिकार को

वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति बाह्य तीन रूपों में होती है—
१. अपहरण (शोचन), २. भोग और ३. संग्रह। आसक्ति के तीन रूपों का निग्रह करने के लिए जैन आचारदर्शन में अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का विधान है। सग्रह-वृत्ति का अपरिग्रह से, भोगवृत्ति का ब्रह्मचर्य से और अपहरणवृत्ति का अस्तेय महारथ से निग्रह होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समग्र आसक्ति दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। कहा गया है—त्रिमयी तृष्णा समाप्त हो जाती है उसका मोह समाप्त हो जाता है और त्रिमया मोह मिट जाता है उसके दुःख भी समाप्त हो जाते हैं।^१ आसक्ति का ही दूसरा नाम मोह है और मोह समग्र सद्गुणों का विनाशक है।^२ जैन विचारणा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी भाई है जो कभी भी पाटो नहीं आ सकती। दुष्पूर तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि मोह और शरीर के कैलास पर्वत के समान असह्य पर्वत भी खड़े कर दिये जायें तो भी यह दुष्पूर तृष्णा शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि घन चाहे कितना भी हो, वह सीमित है और तृष्णा असीम (असीम) है, अतः सीमित माधवों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।^३ बल्कि जब तक तृष्णा शान्त नहीं होती, तब तक दुःखों से मुक्ति भी नहीं होती। सूत्रकृतांग के अनुसार मनुष्य जब तक किसी भी प्रकार की आसक्ति रखता है वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।^४ यदि हम अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो जैन दार्शनिकों की दृष्टि में तृष्णा या आसक्ति दुःख का पर्यायवाची ही बन गयी है। यह तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह (सग्रहवृत्ति) का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।^५ जैन आचार्यों ने त्रिम अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके मूल में यही अनासक्ति-प्रधान दृष्टि कार्य कर रही है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, उपाधि उसका प्रकटन बाह्य है और उसका सीधा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः आसक्ति के प्रहाण के लिए व्यावहारिक रूप में परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है।

परिग्रह या सग्रहवृत्ति सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न है। क्योंकि बिना हिंसा (शोचन) के सग्रह असम्भव है। व्यक्ति सग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में सग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। वह हिंसा या शोचन का जनक है। अनासक्ति को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि मनुष्य बाह्य-परिग्रह का भी त्याग

१. उत्तराध्ययन, ३२।८.

२. दशवैकालिक, ८।३८.

३. उत्तराध्ययन, ९।४८.

४. सूत्रकृतांग, १।१।२.

५. दशवैकालिक, ६।२१.

करे। परिग्रह-त्याग अनामकन दृष्टि का बाह्य जीवन में प्रमाण है। एक ओर त्रिगुल सग्रह और दूसरी ओर अनामकन, इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यदि मन में अनामकन की भावना का उदय है तो उसे बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकट होना चाहिए। अनामकन की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्त्याश और श्रमण जीवन में गमय परिग्रह के त्याग का निर्देश है। शिष्टाचार जैन मुनि का आध्यात्मिक अपरिग्रही जीवन अनामकन दृष्टि का सजीव प्रमाण है। अपरिग्रही होने हुए भी व्यक्ति के मन में आमक्ति का तरव रह जाता है, लेकिन इस आधार पर यह मानना कि त्रिगुल सग्रह को रगने हुए भी अनामकन वृत्ति का पूरी तरह निर्वह हो सकता है, गमचित नही है।

जैन आचारदर्शन में यह आवश्यक माना गया है कि साधक चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, उसे अपरिग्रह की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। हम देखते हैं कि राष्ट्रीय एवं वर्गों की सग्रह एवं शोषण-वृत्ति ने मानव-जाति को जितने कष्टों में डाला है। जैन आचारदर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। जैनविचारधारा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी हो है।^१ समविभाग और समवितरण सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग है। इसके बिना आध्यात्मिक उपलब्धि भी सम्भव नहीं। अतः जैन आचार्यों ने नैतिक साधना की दृष्टि में अनामकन को अनिवार्य माना है।

बौद्ध धर्म में अनामकन—बौद्धपरम्परा में भी अनामकन को गमय बन्धनों एवं दुःख का मूल माना गया है। बुद्ध कहते हैं कि तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बन्धन स्वयं नष्ट हो जाते हैं। तृष्णा दुष्कृत्य है। वे कहते हैं कि चाहे स्वर्ण-मुद्राओं की धारणा रखे, लेकिन उससे भी तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।^२ भगवान् बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख है^३ और जिसे यह विषैली नीच तृष्णा घेर लेती है उसके दुःख ही बढ़ने रहते हैं, जैसे खेतों में बीरण धाम बढ़ती रहती है।^४ बौद्धदर्शन में तृष्णा तीन प्रकार की मानी गयी है—१. भवतृष्णा, २. विभवतृष्णा और ३. कामतृष्णा। भवतृष्णा अस्तित्व या बने रहने की तृष्णा है, यह रागस्थानीय है। विभवतृष्णा सम्पत्ति या नष्ट हो जाने की तृष्णा है। यह द्वेषस्थानीय है। कामतृष्णा भोगों की उपलब्धि की तृष्णा है। रूपादि पद विषयों की भव, विभव और कामतृष्णा के आधार पर परम्परा में तृष्णा के १८ भेद भी माने गये हैं। तृष्णा ही बन्धन है। बुद्ध ने ठीक कहा है कि बुद्धिमान् लोग उस बन्धन को बन्धन नहीं कहते जो छोड़ने का बाना

१. उत्तराध्यात्म, १७।११; प्रश्नव्याकरण, २।३.

२. धम्मपद, १८६.

३. समुत्तनिघाम, २।१२।६६, १।१।६५.

४. धम्मपद, ३३५.

लकड़ी का बना हो अथवा रस्सी का बना हो, अपितु दृढतर बन्धन तो सोना, चाँदी, पुत्र, स्त्री आदि में गृही हुई आसक्ति ही है।^१ सुत्तनिपात में भी बुद्ध ने कहा है कि आसक्ति ही बन्धन है^२ जो भी दुःख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।^३ आसक्ता मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं।^४ आसक्ति का शय ही दुःखों का शय है। जो व्यक्ति इस तृष्णा को बश में कर लेता है उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे कमलपत्र पर रहा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।^५ तृष्णा से ही शोक और भय उत्पन्न होते हैं। तृष्णा-मुक्त मनुष्य को न तो भय होता है और न शोक।^६ इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति ही सच्चा सुख है। बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का प्रतिपादन किया, उसके पीछे भी उनकी मूल दृष्टि आसक्ति-नाश ही थी। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति, चाहे वह पदार्थों की हो, चाहे वह किसी अतीन्द्रिय आत्मा के अस्तित्व की हो, बन्धन ही है। अस्तित्व की चाह तृष्णा ही है। मुक्ति तो विरागता या अनासक्ति में ही प्रतिफलित होती है।^७ तृष्णा का प्रहाण होना ही निर्वाण है। बुद्ध की दृष्टि में परिग्रह या सग्रह-वृत्ति का मूल यही आसक्ति या तृष्णा है। कहा गया है कि परिग्रह का मूल इच्छा (आसक्ति) है।^८ अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के उदय के लिए परिग्रह का विमर्जन आवश्यक है।

गीता में अनासक्ति—गीता के आचारदर्शन का भी केन्द्रीय तत्त्व अनासक्ति है। महात्मा गांधी ने तो गीता को 'अनासक्ति-योग' ही कहा है। गीताकार ने भी यह स्पष्ट किया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को सग्रह और भोगवामना के लिए प्रेरित करता है। कहा गया है कि आसक्ति के बन्धन में बंधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्याय-पूर्वक अर्थ-सग्रह करता है।^१ इस प्रकार गीताकार की स्पष्ट मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में अपहरण, लोपण और सग्रह की जो बुराइयाँ पनपती हैं वे सब मूलतः आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हैं। गीता के अनुसार आसक्ति और लोभ नरक के कारण है। कामभोगों में आसक्ता मनुष्य ही नरक और अगुप्त मोनियों में जन्म लेता है।^२ सम्पूर्ण जगत् इसी आसक्ति के पाश में बंधा हुआ है और इच्छा और द्वेष से सम्मोहित होकर परिभ्रमण करता रहता है। वस्तुतः आसक्ति के कारण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन नारकीय बन जाता है। गीता के नैतिक दर्शन का मार्ग जोर फलासक्ति को समाप्त करने पर है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, तुझमें के फल में रहो हुई आसक्ति का त्याग कर

१. धम्मपद, ३४१.

२. बहो, ३८।१७.

३. धम्मपद, ३३६.

४. मज्झिमनिकाय, ३।२०.

५. गीता, १६।१२.

६. सुत्तनिपात, ६८।५.

७. धेरणाया, १५।७३४.

८. बहो, २१६.

९. महाविहेसपणि, १।११।१०७.

१०. बहो, १६।१६.

सामाजिक धर्म

जैन आचारमार्ग में न केवल आस्थात्मक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गयी है, बल्कि धर्म के सामाजिक पक्षों पर भी वर्णित प्रकाश डाला गया है। जैन विचारों में मंत्र या सामाजिक जीवन की प्रसूतता गरीब स्वीकार की है। स्वर्णमूल में सामाजिक जीवन के मन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपस्था है—१. ग्रामधर्म, २. नगरधर्म, ३. राष्ट्रधर्म, ४. पाण्डुरथधर्म, ५. कुलधर्म, ६. गणधर्म, ७. संघधर्म, ८. मिथ्यान्तधर्म (युतधर्म), ९. शास्त्रधर्म और १०. अग्निजागम्य। इनमें से प्रथम पाँच तो पूर्ण तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

१. ग्रामधर्म—ग्राम के विभाग, व्यवस्था तथा शांति के लिए जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्रामधर्म है। ग्रामधर्म का अर्थ है जिस ग्राम में हम निवास करते हैं, उस ग्राम की व्यवस्थाओं, धर्मशास्त्रों एवं नियमों के अनुसंधान करना। ग्राम का अर्थ व्यक्तियों के कुलों का समूह है। अतः सामूहिक रूप में एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ग्राम का विकास करना, ग्राम के अन्दर पूर्ण तरह से व्यवस्था और शांति बनाये रखना और आगम में वैमनस्य और भेद उत्पन्न न हो उनके लिए प्रयत्नशील रहना ही ग्रामधर्म के प्रमुख स्तर हैं। ग्राम में शांति एवं व्यवस्था नहीं है, तो वहाँ के लोगों के जीवन में भी शांति नहीं रहती। जिस परिवेश में हम जीते हैं, उसमें शांति और व्यवस्था के लिए आवश्यक रूप से प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक ग्रामवासी सदैव हम बात के लिए जागृत रहे कि उनके किसी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुँचे। ग्रामधर्म की व्यवस्था के लिए जैन आचार्यों ने स्व-स्वविर की व्यवस्था भी की है। ग्रामस्वविर ग्राम का मुखिया या नेता होता है। स्व-स्वविर का प्रयत्न रहता है कि ग्राम की व्यवस्था, शांति एवं विकास के लिए, ग्रामवासी में पारस्परिक स्नेह और सहयोग बना रहें।

२. नगरधर्म—ग्रामों के मध्य में स्थित एक केन्द्रीय ग्राम को जो उनका व्यावसायिक केन्द्र होता है, नगर कहा जाता है। सामान्यतः ग्राम-धर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। नगरधर्म के अन्तर्गत नगर की व्यवस्था एवं शांति, नागरिक-नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्परिक हितों का संरक्षण-सम्बन्ध आता है।

१. स्वर्णमूल १०१३६०

विशेष विवेचना के लिए देखिए—(अ) धर्म व्याख्या (श्री जवाहरलालजी म०)
(ब) धर्म दर्शन (श्री गुबलचन्दजी म०)

सेटिन नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल नगर के हितों तक ही सीमित नहीं है। युगोन सन्दर्भ में नगरधर्म यह भी है कि नागरिकों के द्वारा ग्रामवासियों का पोषण न हो। नगरजनों का उत्तरदायित्व ग्रामीणजनों की अपेक्षा अधिक है। उन्हें न केवल अपने नगर के विकास एवं व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए बल्कि उन गमय ग्रामवासियों के हित भी चिन्ता करने चाहिए; जिनके आधार पर नगर की व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियाँ निर्भर हैं। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक कर्तव्यों एवं नियमों का पुरो तरह पालन करना ही मनुष्य का नगरधर्म है।

जैन सूत्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिए नगरस्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगरनिगम के अध्वक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

१. राष्ट्रधर्म—जैन विचारणा के अनुसार प्रत्येक ग्राम एवं नगर किसी राष्ट्र का अंग होता है और प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जो ग्रामीणों एवं नागरिकों को एक राष्ट्र के सदस्यों के रूप में आपस में बाँधकर रखती है। राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना अथवा जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सजीव बनाये रखना। राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना ही राष्ट्रधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्रीय एकाता एवं निष्ठा को बनाये रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर पाठ न करते हुए, राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य न करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना। उपामर्शपूर्णतासूत्र में राज्य के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। जैनधर्म में राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातन्त्र में जो स्थान राष्ट्र-पति का है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में राष्ट्रस्थविर का होगा, यह माना जा सकता है।

४. पाषण्डधर्म—जैन आचार्यों ने पाषण्ड की अपनी व्याख्या की है। जिसके द्वारा पाप का खण्डन होता हो वह पाषण्ड है।^१ दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार पाषण्ड एक व्रत का नाप है। जिसका व्रत निर्मल हो, वह पाषण्डहीन।^२ सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाषण्डधर्म है। सम्प्रति पाषण्ड का अर्थ भोग हो गया है, वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। पाषण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं सत्यमय जीवन। पाषण्डधर्म के लिए व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्-स्थविर शब्द की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लगता है कि वह जनता को धर्मोप-के माध्यम से नियंत्रित करनेवाला अधिकारी है। प्रशास्ता-स्थविर का कार्य :

पारमिह विद्या, मध्य एवं उच्च-पञ्चन के विभिन्न धर्मों को समेटने के लिये है। हमारे विचार में प्रजासत्ताक व्यवस्था का स्थापना करने के लिये जिनका होना होगा विचार का कार्य प्रजा की सामान्य नीति के जीवन की विधा देना होगा होगा।

५. कुलधर्म—परिवार व्यवस्था का आधार-नियमों का पालन करना कुलधर्म है। परिवार का अनुभव, कुल एवं धर्म का विचार कुलधर्म है। परिवार के सदस्य कुलधर्म की आज्ञाओं का पालन करने हैं और कुलधर्म का धर्म है परिवार का सर्वोपरि एवं विकास करना तथा उसे समस्त प्रवृत्तियों में बढ़ाना। जैन परम्परा में गृहस्थ एवं मूर्ति दोनों के लिए कुलधर्म का पालन आवश्यक है, धर्म मूर्ति का कुल उसके विना के आधार पर नहीं बनने गुण के आधार पर बनता है।

६. गणधर्म—गण का अर्थ समाज आधार एवं विचार के व्यक्तियों का समूह है। महावीर के समय में हमें गणराज्यों का संकेत मिलता है। गणराज्य एक प्रकार के प्रजासत्ताक राज्य होते हैं। गणधर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्मांशों का पालन करना। गण दो माने गये हैं—१. लौकिक (सामाजिक) और २. लोकोत्तर (धार्मिक)। जैन परम्परा में वर्तमान युग में भी गणधर्म के गण होते हैं जिन्हें गण कहा जाता है। प्रत्येक गण (गच्छ) के आधार-नियमों में बोधा-बहुल अन्तर भी रहता है। गण के नियमों के अनुसार आचरण करना गणधर्म है। परस्पर सहयोग तथा सेवा करना गण के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है। गण का एक गणधर्म होता है। इसकी देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर व्यवस्था देना, नियमों को बनाना और पालन करवाना गणधर्म का कार्य है। जैन विचारणा के अनुसार बार-बार गण को बदलने वाला साधक हीन दृष्टि से देखा गया है। कुछ ने भी गण की उन्नति के नियमों का प्रतिपादन किया है।

७. संघधर्म—विभिन्न गणों में मिलकर संघ बनता है। जैन आचार्यों के संघधर्म की व्याख्या संघ या सभा के नियमों के परिपालन के रूप में की है। यह एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं। संघ के नियमों का पालन करना संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है।

जैन परम्परा में संघ के दो रूप हैं १. लौकिक संघ और २. लोकोत्तर संघ। लौकिक संघ का कार्य जीवन के भौतिक पक्ष की व्यवस्थाओं को देखना है, जबकि लोकोत्तर संघ का कार्य आध्यात्मिक विकास करना है। लौकिक संघ हो या लोकोत्तर संघ हो, संघ के प्रत्येक सदस्य का यह अनिवार्य कर्तव्य माना गया है कि वह संघ के नियमों का पूरी तरह पालन करे। संघ में किसी भी प्रकार के मतभेद या अल्प के लिए कोई भी कार्य नहीं करे। एकता की अधार बनाये रखने के लिए सर्वोपरि

प्रयत्नशील रहे। जैन परम्परा के अनुसार साधु, गार्हो, श्रावक और श्राविका इन चारों से मिलकर संघ का निर्माण होता है। नन्दीगुप्त ने संघ के महत्त्व का विस्तार-पूर्वक सुन्दर विवेचन हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि जैन में नैतिक साधना में संघीय जीवन का जितना अधिक महत्त्व है।^१

८ श्रुतधर्म—सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य है शिशन-करण्या सम्बन्धी नियमों का पालन करना। शिश्य का गुरु के प्रति, गुरु का शिश्य के प्रति कैसा व्यवहार हो यह श्रुतधर्म का ही विषय है। सामाजिक मंदिर में श्रुतधर्म से तात्पर्य शिशन की सामाजिक या संघीय व्यवस्था है। गुरु और शिश्य के कर्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का बोध और उनका पालन श्रुतधर्म या ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग है। योग्य शिश्य को ज्ञान देना गुरु का कर्तव्य है, जबकि शिश्य का कर्तव्य गुरु की आज्ञाओं का अदा-पूर्वक पालन करना है।

९ चरित्रधर्म—चरित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचार-नियमों का परिपालन करना। यद्यपि चरित्रधर्म का बहुत कुछ पञ्च-स्य वैयक्तिक गायना से है, तथापि उनका सामाजिक पहलू भी है। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा सम्बन्धी सभी नियमों और उपनियम सामाजिक शान्ति के सत्साधन के लिए हैं। अनाग्रह सामाजिक जीवन में वैचारिक विद्वेष एवं वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। इसी प्रकार अपरिग्रह सामाजिक जीवन में गद्गद वृत्ति, अन्धेय और शोषण को समाप्त करता है। अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर आधारित जैन आचार के नियम-उपनियम प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सामाजिक दृष्टि से युक्त हैं यह माना जा सकता है।

१० अस्तिकायधर्म—अस्तिकायधर्म का बहुत कुछ मन्त्र-तत्त्वमोमांसा से है, अतः उसका विवेचन यहाँ अप्रामाणिक है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया बल्कि सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है। जैन गुरुओं से उपलब्ध नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन आचारदर्शन सामाजिक पक्ष का यथोचित मूल्यांकन करने हुए उसके विकास का भी प्रयास करता है।

जैनधर्म और सामाजिक वायित्व

यद्यपि प्राचीन जैन आगम साहित्य में सामाजिक वायित्व का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं है किन्तु उसमें यथ-संख्य कुछ बिन्दु हैं। ऐसे युक्त हैं, जो व्यक्ति के सामाजिक वायित्वों को स्पष्ट करते हैं। जैन आगमों का बोधा परवर्ती साहित्य में युक्ति

सूक्ष्म उपायों से ही सामाजिक दारिद्र्यों की निरमूल वर्षा है। सर्व प्रथम इन मुनि के सामाजिक दारिद्र्यों की वर्षा करते हैं।

जैन मुनि के सामाजिक दायित्व—जयति मुनि का मूल भाव आत्म साधना है किन्तु भी प्राचीन जैन ग्रन्थों में उनके लिए निम्न सामाजिक दायित्व निर्दिष्ट हैं—

१. नीति और धर्म का प्रकाशन—मुनि का सर्व प्रथम सामाजिक दायित्व यह है कि वह नगरों या ग्रामों में जाकर जनसाधारण को सन्तानों का उपदेश देवे। आचार्य में स्पष्ट रूप से निर्देश है कि मुनि ग्राम एवं नगर की पूर्ण, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में जाकर धनी-निम्न या ऊँच-नीच का भेद किये बिना सभी को धर्ममार्ग का उपदेश दे। इस प्रकार जन साधारण को नीतिगत जीवन एवं साधन की ओर प्रवृत्त करना यह मुनि का प्रथम सामाजिक दायित्व है। वह समाज में नीतिवृत्ता एवं साधन का प्रवर्धक है। समाज अनैतिकता की ओर अग्रसर न हो यह देखना उसका दायित्व है। चूंकि मुनि भिक्षा आदि के रूप में जीवन निर्वाह के साधन समाज से प्राप्त करता है, इसलिए समाज का प्रत्युपकार करना उसका कर्तव्य है।

२. धर्म की प्रभावना एवं सध की प्रतिष्ठा की रक्षा—सामान्य रूप से सध का और विशेष रूप से आचार्य, गणी एवं गच्छ साधक का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे सध की प्रतिष्ठा एवं गरिमा को अग्रणी बनाये रहें। उन्हें इस बात का ध्यान रहना होता है कि सध की प्रतिष्ठा का रक्षण हो, सध का परामर्श न हो, जैनधर्म के प्रति उत्पन्न सकल वर्ग की आस्था बनी रहे और उसके प्रति लोगों में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न न हो। निशीधपूर्ण आदि में उत्पन्न है कि सध की प्रतिष्ठा के रक्षण निमित्त अपवाद मार्ग का भी सहारा लिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मुनि के लिए मंत्र-तंत्र करना, धमतरा बताना या तप-श्रद्धा का प्रदर्शन करना वर्जित है किन्तु संघहित और धर्म प्रभावना के लिए वह यह सब कर सकता है^२। इस प्रकार सध का संरक्षण आवश्यक माना गया है क्योंकि वह साधना की आधार भूमि है।

३. भिक्षु भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या—जैन मुनि का तीसरा सामाजिक दायित्व सध-सेवा है। महावीर एवं बुद्ध की यह विशेषता है कि उन्होंने सामूहिक साधना पद्धति का विकास किया और भिक्षु संघ एवं भिक्षुणी संघ जैसी सामाजिक संस्थाओं का निर्माण किया। जैनागमों में प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी का यह अनिवार्य कर्तव्य माना गया है कि वे अन्य भिक्षुओं और भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या करें। यदि वे किसी ऐसे ग्राम या नगर में पहुँचते हैं कि जहाँ कोई रोगी या बुद्ध भिक्षु पहले से निवास कर रहा हो तो उनका प्रथम दायित्व होता है कि वे उसकी प्रयोजित परिचर्या करें और यह ध्यान रहें कि उनके कारण उसे अशुविधा न हो।^३ सध व्यवस्था में आचार्य, उपाध्याय,

स्थविर (बुद्ध-मुनि), रोगी (श्रान), अध्ययनरत नवशोधित मुनि, कुल, संघ और साधर्मों की सेवा परिचर्या के विस्तार निर्देश दिये गये थे।

४. भिक्षुणी संघ का रक्षण—निशोषपूर्ण के अनुगार मुनिसंघ का एक अंग दायित्व यह भी था कि वह अगामाजिक एवं दुराचारी लोगों में भिक्षुणी सघ की रक्षा करें। ऐसे प्रसंगों पर यदि मुनि मर्यादा भंग करके भी कोई आचरण करना पड़ता तो वह दण्ड्य माना जाता था।

५. संघ के आदेशों का परिपालन—प्रत्येक स्थिति में संघ (समाज) सर्वोपरि था। आचार्य जो संघ का नायक होता था, उसे भी संघ के आदेश का पालन करना होता था। वैयक्तिक साधना की अपेक्षा भी संघ का हित प्रधान माना गया था। संघ के हितों और आदेशों की अवमानना करने पर दण्ड देने की व्यवस्था थी। श्वेताम्बर साहित्य में यहाँ तक उल्लेख है कि पाटलीपुत्र शासना के समय संघ के आदेश की अवमानना करने पर आचार्य भद्रबाहु को संघ से बहिष्कृत कर देने तक के निर्देश दे दिये थे।

गृहस्थ वर्ग के सामाजिक दायित्व

१. भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा—उपासक वर्ग का प्रथम सामाजिक दायित्व था आहार, औषधि आदि के द्वारा धमण संघ की सेवा करना। अपनी दैहिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में मुनिवर्ग पूर्णतया गृहस्थों पर अवलम्बित था अतः गृहस्थों का प्राथमिक कर्तव्य था कि वे उनकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति करें। अतियि सविभाग को गृहस्थों का धर्म माना गया था। इस दृष्टि से उन्हें भिक्षु-भिक्षुणी संघ का 'माता-पिता' कहा गया था। यद्यपि नाथु-साध्वियों के लिए भी यह स्पष्ट निर्देश था कि वे गृहस्थों पर भार स्वरूप न बने।

२. परिवार की सेवा—गृहस्थ का दूसरा सामाजिक दायित्व अपने बुद्ध माता-पिता, परनी, पुत्र-पुत्री आदि परिजनो की सेवा एवं परिचर्या करना है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि महावीर ने माता का अपने प्रति अत्यधिक स्नेह देसकर यह निर्णय ले लिया था कि जब तक उनके माता-पिता जीवित रहेंगे वे संन्यास नहीं लेंगे। यह माता-पिता के प्रति भक्ति भावना का सूचक ही है। यद्यपि हम मन्मथ में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण भिन्न है। जैनधर्म में संन्यास लेने के पहले पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाना आवश्यक माना गया है। मुझे जैन आगमों में एक भी उल्लेख ऐसा देख को नहीं मिला कि जहाँ बिना परिजनो की अनुमति से किसी व्यक्ति ने संन्यास ग्रह किया हो। जैनधर्म में आज भी यह परम्परा अक्षुण्णरूप से कायम है। कोई भी व्यक्ति बिना परिजनो एवं समाज (सघ) की अनुमति के संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता है।

औपधि का सेवन करता है। यहाँ जैनधर्म की निवृत्तिप्रधान दृष्टि कोअशुष्ण रखते हुए वैवाहिक जीवन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। वैवाहिक जीवन की आवश्यकता न केवल यौन-वासना की सतृष्टि के लिए अपितु कुल जाति एवं धर्म का संवर्द्धन करने के लिए भी है। आदिपुराण में यह भी उल्लेख है कि विवाह न करने से मन्त्रति का उच्छेद हो जाता है, सन्तति के उच्छेद से धर्म का उच्छेद हो जाता है अतः विवाह गृहस्थों का धार्मिक कर्तव्य है^१।

वैवाहिक जीवन में परस्पर प्रीति को आवश्यक माना गया है, यद्यपि जैनधर्म का मुख्य बल वासनात्मक प्रेम की अपेक्षा समर्पण भावना या विदुद्ध प्रेम की ओर अधिक है। नेमि और राजकुल तथा विजयसेठ और विजया सेठानी के वासनारहित प्रेम की चर्चा से जैन कथा साहित्य परिपूर्ण है। इन दोनों युगलों की गौरवगाथा आज भी जैन समाज में श्रद्धा के साथ गाई जाती है। विजय सेठ और विजया सेठानी का जीवन-वृत्त गृहस्थ जीवन में रहकर ब्रह्मचर्य के पालन का सर्वोच्च आदर्श माना जाता है।

वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित अन्तः समस्याओं जैसे विवाह-विच्छेद, विधवा-विवाह, पुनर्विवाह आदि के विधि-नियम के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट उल्लेख तो प्राप्त नहीं होते हैं कि जैन कथासाहित्य में इन प्रवृत्तियों को सदैव ही धनैतिक माना जाता रहा है। अपवारूप से कुछ उदाहरणों को छोड़कर जैन समाज में अभी तक इन प्रवृत्तियों का प्रचलन नहीं है और न ऐसी प्रवृत्तियों की अच्छी निगाह से देखा जाता है। यद्यपि विधवा विवाह और पुनर्विवाह के समर्थक ऋषभदेव के जीवन का उदाहरण देने हैं। जैन कथा साहित्य के अनुसार ऋषभदेव ने एक युगलियों की अवाल मृत्यु हो जाने पर उनकी बहन/पत्नी से विवाह किया था। जैन कथा साहित्य के अनुसार ऋषभदेव के पूर्व बहन ही यौवनावस्था में पत्नी बनती थी, उन्होंने ही इस प्रथा को समाप्त कर विवाह संस्था की स्थापना की थी अतः यह मानना उचित नहीं है कि उन्होंने विधवा विवाह किया था। समाज में बहुपत्नी प्रथा की उपस्थिति के अनेक उदाहरण जैन धार्मिक साहित्य और कथा साहित्य में मिलते हैं, यद्यपि बहुपत्नी प्रथा का एक मात्र उदाहरण ही उपलब्ध है—किन्तु इनका कहीं समर्थन किया गया हो या इन्हें नैतिक और धार्मिक दृष्टि से उचित माना गया हो ऐसा कोई भी उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। आदर्श के रूप में सदैव ही एक पत्नी व्रत या एक-व्रतव्रत की प्रशंसा की गई है।

वस्तुतः जैनधर्म वैयक्तिक नैतिकता पर बल देकर सामाजिक सम्बन्धों को दुर्बल और मधुर बनाता है। उसके सामाजिक आदेश निम्न हैं —

११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोक हितार्थ व्यय करो ।
१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो ।
१३. अपनी उपमोक्ष सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति सग्रह मत करो ।
१४. वे सभी कार्य मत करो, जिसने मुम्हारा कोई हित नहीं होता है ।
१५. यथा सम्भव अतिथियों की, सन्तानों की, पीडित एवं अगहाय व्यक्तियों की सेवा करो । अन्न, वस्त्र, धावाम, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो ।
१६. ऋण मत करो, सबसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करो ।
१७. दूसरों की अवमानना मत करो, विनीत बनो, दूसरों का आदर-सम्मान करो ।
१८. कष्टपूर्ण व्यवहार मत करो । दूसरों के प्रति व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो ।
१९. सुष्णा मत रहो, आसक्ति मत बढ़ाओ ।
२०. न्याय-नीति से घन उपार्जन करो ।
२१. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करो ।
२२. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करो ।
२३. सदाचारी पुरुषों की संगति करो ।
२४. माता-पिता की सेवा-भक्ति करो ।
२५. रगड़े-शगड़े और बल्लेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहो, अर्थात् वित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहो ।
२६. आय के अनुसार व्यय करो ।
२७. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनो ।
२८. धर्म के माय अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इन प्रकार सेवन करो कि कोई किसी का बाधक न हो ।
२९. अतिथि और साधु जनों का यथायोग्य सत्कार करो ।
३०. कभी दुराग्रह को बंधीभूत न होओ ।
३१. देस और काल के प्रतिकूल आचरण न करो ।
३२. जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करो ।
३३. अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता पूर्वक स्वीकार करो ।
३४. अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करो ।
३५. लज्जाशील बनो । अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करो ।
३६. परोपकार करने में उत्पन्न रहो । दूसरों की सेवा करने का अवसर आने मत हटो ।

करना चाहिए। उत्तरार्ध पुत्र में उन्होंने इस बात पर प्रकाश डाला है कि इनमें से प्रत्येक के प्रति गृहस्थोपासक के क्या कर्तव्य है।

पुत्र के माता पिता के प्रति कर्तव्य—(१) इन्होंने मेरा भरण-पोषण दिया है अतः मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिए। (२) इन्होंने मेरा कार्य (मेरा) दिया है अतः मुझे इनका कार्य (मेरा) करना चाहिए। (३) इन्होंने पुत्र-पंश को कायम रखा है, उसकी रक्षा की है अतः मुझे भी पुत्र-पंश को कायम रखना चाहिए, उसकी रक्षा करनी चाहिए। (४) इन्होंने मुझे उत्तराधिकार (दायज) प्रदान दिया है अतः मुझे भी उत्तराधिकार (दायज) प्रतिपादन करना चाहिए। (५) मृग-प्रेतों के निमित्त आश्रय-दान देना चाहिए।

माता-पिता का पुत्र पर प्रत्युपकार—(१) पाप कामों से बचाते हैं (२) पुण्य कर्म में योजित करते हैं (३) शिल्प की शिक्षा प्रदान करते हैं (४) योग्य स्त्री से विवाह कराने हैं और (५) उत्तराधिकार प्रदान करने हैं।

आचार्य (शिक्षक) के प्रति कर्तव्य—(१) उत्सान—उनकी आदर प्रदान करना चाहिए। (२) उपस्थान—उनकी सेवा में उपस्थित रहना चाहिए। (३) मुद्रुपा—उनकी मुद्रुपा करनी चाहिए। (४) परिचर्या—उनकी परिचर्या करनी चाहिए। (५) विनय पूर्वक शिल्प सीखना चाहिए।

शिष्य के प्रति आचार्य का प्रत्युपकार—(१) विनीत बनाने हैं। (२) सुन्दर शिक्षा प्रदान करते हैं। (३) हमारी विद्या परिपूर्ण होगी यह सोचकर सभी शिल्प और सभी श्रुत सिसलाने हैं। (४) मित्र-अमात्यों को सुवर्तिपादन करते हैं। (५) विद्या (विद्या) की सुरक्षा करते हैं।

पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य—(१) पत्नी का सम्मान करना चाहिए। (२) उसका विरहकार या अवहेलना नहीं करनी चाहिए। (३) परस्त्री समन नहीं करना चाहिए (इससे पत्नी का विश्वास बना रहता है)। (४) ऐश्वर्य (सम्पत्ति) प्रदान करना चाहिए। (५) वस्त्र-अलंकार प्रदान करना चाहिए।

पति के प्रति पत्नी का प्रत्युपकार—(१) घर के सभी कामों को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करती है। (२) परिजन (नौकर-चाकर) को वश में रखती है। (३) दुष्ट-चरण नहीं भरती है। (४) (पति द्वारा) अजित सम्पदा की रक्षा करती है। (५) गृह-कामों में निरालस और दक्ष होती है।

के प्रति कर्तव्य—(१) उन्हें उपहार (दान) प्रदान करना चाहिए। (२) बोलना चाहिए। (३) अर्थ-वर्षा अर्थात् उनके कार्यों में सहयोग प्रदान

करना चाहिए । (४) उनके प्रति समानता का व्यवहार करना चाहिए । (५) उन्हें विद्वान् प्रदान करना चाहिए ।

मित्र का प्रत्युपकार—(१) उसकी भूलों से रक्षा करते हैं (अर्थात् सही दिशा निर्देश करते हैं) । (२) उसकी सम्पत्ति की रक्षा करते हैं । (३) विपत्ति के समय धारण प्रदान करते हैं । (४) आपत्काल में साथ नहीं छोड़ते हैं । (५) अग्न्य लोग भी ऐसे (मित्र युक्त) पुरुष का सत्कार करते हैं ।

शैशव के प्रति स्वामी के कर्तव्य—(१) उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य लेना चाहिए । (२) उसे उचित भोजन और वेतन प्रदान करना चाहिए । (६) रोपी होने पर उसकी सेवा-सुधुषा करनी चाहिए । (४) उसे उत्तम रसों वाले पदार्थ प्रदान करना चाहिए । (५) समय-समय पर उसे अवकाश प्रदान करना चाहिए ।

शैशव का स्वामी के प्रति प्रत्युपकार—(१) स्वामी के उठने के पूर्व अपने कार्य करने लग जाते हैं । (२) स्वामी के सोने के पश्चात् ही सोते हैं । (३) स्वामी द्वारा प्रदत्त वस्तु का ही उपयोग करते हैं । (४) स्वामी के कार्यों को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करते हैं । (५) स्वामी की कीर्ति और प्रशंसा का प्रसार करते हैं ।

धर्म का स्वामी के प्रति कर्तव्य—(१) मैत्री भावयुक्त कामिक कर्मों से उनका प्रत्युपस्थान (सेवा-सम्मान) करना चाहिए । (२) मैत्रीभाव युक्त वाषिष्क कर्म से उनका प्रत्युपस्थान करना चाहिए । (३) मैत्रीभाव युक्त मानसिक कर्मों से उनका प्रत्युपस्थान करना चाहिए । (४) उनकी दान-प्रदान करने हेतु सदैव द्वार खुला रखना चाहिए अर्थात् दान देने हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए । (५) उन्हें भोजन आदि प्रदान करना चाहिए ।

धर्म का स्वामी के प्रति प्रत्युपकार—(१) पाप कर्मों से निवृत्त करते हैं । (२) वस्त्राण-धारो धारों में लगाने हैं । (३) वस्त्राण (अनुकम्पा) करने हैं । (४) अध्वर (नवीन) ज्ञान सुनाने हैं । (५) श्रुत (अजित) ज्ञान को दृढ़ करते हैं । (६) स्वर्ग का रास्ता दिखाते हैं ।

वैदिक परम्परा में सामाजिक धर्म—विश्व प्रकार जैन परम्परा में दस धर्मों का वर्णन है उन्हीं प्रकार वैदिक परम्परा में मनु ने भी कुछ सामाजिक धर्मों का विधान किया है, जैसे १. देनधर्म २. आदिधर्म ३. वृत्तधर्म ४. पाण्डित्यधर्म ५. गणधर्म । मनुस्मृति में वर्णित ये पाँचों ही सामाजिक धर्म जैन परम्परा के दस सामाजिक धर्मों से सम्बन्धित हैं । इतना ही नहीं, दोनों में म केवल दान-दान्य है, वरन् अर्ध-दान्य भी दोषा में भी वृत्तधर्म की जगह है । अर्ध-वृत्तधर्म की रक्षा के लिए ही दृढ़ है

जैन, बौद्ध और गीता का समा

का प्रभाव करता है। जैन और बौद्ध परम्पराओं के समान वैदिक परम्परा मोक्षिक जीवन के लिए अनेक विधि-नियमों को प्रस्तुत करती है। वैदिक परम्परा अनुसार माता-पिता की सेवा एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करना व्यक्ति का कर्तव्य है। देवकृष्ण, निमृकृष्ण और गुरुकृष्ण का विचार तथा अतिथिगृहकार का मूल्य बताने स्पष्ट रूप से यह बताती है कि वैदिक परम्परा समाजवादी रही है और सामाजिक दायित्वों का निर्वहन व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है।



श्री श्री श्री गुरुभ्यो नमः
 तं हि सत्यं हि सत्यं हि सत्यं
 सत्यं सत्यं ।। सत्यं सत्यं
 सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं
 सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं
 सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं
 सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं
 सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं